

।। श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

शुक्लयजुर्वेदीयकाण्वशाखान्तर्गतशतपथब्राह्मणान्तर्भूता

बृहदारण्यकोपनिषत्

भाग ३ - खिलकाण्डम्

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

(पारायण संस्करण)

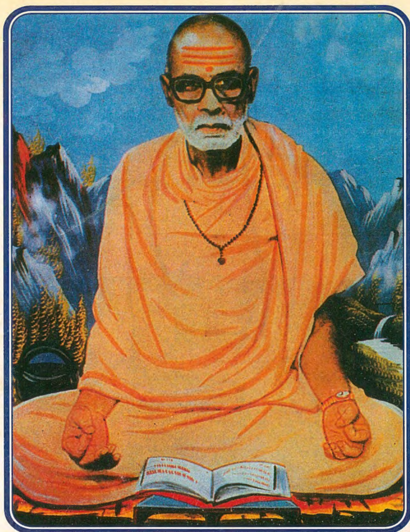




'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श

आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



श्रीमत्परमहंस श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ
श्री १०८ स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज



॥ श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

श्रीकैलासविद्यालोकस्य अष्टषष्ठितमः (६८) सोपानः

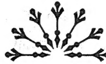
शुक्लयजुर्वेदीयकाण्वशाखान्तर्गतशतपथब्राह्मणान्तर्भूता

बृहदारण्यकोपनिषत्

(भाग ३ - खिलकाण्डम्)

मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुता

(पारायण संस्करण)



'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श

आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



विद्वत्सम्पादकमण्डलेन सम्पादितम्

ॐ

प्रकाशक :- दूरभाष :

श्री कैलास विद्या प्रकाशन, ०१३५–४३०५९८

कैलास गेट, हृषीकेश (उ० प्र०)

प्रसंग : गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी सङ्गम।

सौजन्य : भक्त श्रीदेसराज जी चानना एवं माता श्री वीराँवाली
चानना के सुपुत्र श्रीमान् नरेन्द्र चानना,
पुत्रवधू श्रीमती नीरजा चानना,
पौत्र चि० मनीष एवं आशीष चानना,
पश्चिम विहार, नयी दिल्ली।

बृहदारण्यकोपनिषत् भाग-३ खिलकाण्डम्

प्रथमावृत्ति ३000 वि० सम्वत् २०५७ सन् २०००

मूल्यम् : १०० रूप्यकाणि

ग्रन्थप्राप्तिस्थानानि —

१. श्री कैलास आश्रम, कैलास गेट, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
३. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३
४. श्री शंकर ब्रह्मविद्याकुटीर, ८३ - ए, द्वारका पुरी, मुजफ्फर नगर-२५१००१
५. श्री कैलास विद्यातीर्थ, (आदि शंकराचार्य स्मारक) ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
६. श्री कैलास विद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगीर (नालन्दा)-८०३११६
७. श्री कैलास आश्रम, मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१
८. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
९. श्री कैलास विद्याधाम, रूप नगर, जम्मू तवी
१०. नर्मदा सत्संग आश्रम, सिवनीमालवा, होशंगाबाद

मुद्रक :— नाथ प्रिंटर्ज, जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली - ११०००५, दूरभाष - ३५५५५८९, ३६१९१७०

लेज़र कम्पोज़िंग : - आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स, जनक पुरी, नई दिल्ली - ११००५२ ✦ दूरभाष : ५५२३००६

ॐ

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसव :

बृहदारण्यकोपनिषत्-पारायण संस्करण के तृतीय भाग-खिलकाण्ड में भी दो अध्याय-पाँचवाँ और छठा है।

कुछ समय पूर्व श्री दशम कैलासपीठाधीश्वर जी महाराज भगवत्पादीय दिव्य युगारम्भ की घोषणा कर चुके हैं। इस दिव्य युग के प्रधान देवता जगद्गुरु भगवान् आदि शंकराचार्य ही हैं इस बात का संकेत महाराज श्री ने 'भगवत्पादीय' पद से कर दिया है। इस युग में भगवदाराधना पद्धति में शाङ्कर भाष्य पारायण का ही वैशिष्ट्य है, इसका संकेत भी महाराज श्री ने स्वयं शाङ्करभाष्य का नियमतः पारायण करने का व्रत लेकर कर दिया है। युगानुकूल इस सरल साधन को अपनाने के लिये महाराज श्री पुरजोर परामर्श दे रहे हैं। लोक कल्याणार्थ आपने सुविधापूर्वक पारायण के अनुरूप ग्रंथ भी प्रकाशित करवा दिये हैं। अतएव यह अब हमारा कर्तव्य है कि शाङ्करभाष्य पारायण को अपनी दैनिक भजन साधना में सम्मिलित कर अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें।

''सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः'' के अनुसार जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने सभी उपनिषदों का गीतारूपी सारामृत दुहा था, उसी प्रकार श्रीकैलासब्रह्मविद्यापीठ के यशस्वी दशमाचार्य ने **प्रस्तावना** शीर्षक वाले अपने निबन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद् का सार संग्रह कर दिया है। मानो गागर में सागर को भर दिया है, जिसे पाठक अग्रिम २० पृष्ठों में देख सकते हैं। इसके पाठमात्र से सम्पूर्ण बृहदारण्यक उपनिषद् का चित्र हृदय में अङ्कित हो जाता है, जो साधक एवं साधारणजन के लिए भी एक अच्छी उपलब्धि मानी जायेगी।

इस प्रस्तावना को प्रथमभाग-मधुकाण्ड में न देकर इस तृतीयभाग-खिलकाण्ड में देने के दो कारण समझने चाहिये। प्रथम तो यह कि सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक बार पारायण करने के पश्चात् इस प्रस्तावना को पढ़े तो विशेष आनन्द का अनुभव होगा। दूसरे खिलकाण्ड कलेवर में छोटा होने से इसी में इस बृहत् प्रस्तावना को समाविष्ट करना उपयुक्त जान पड़ा।

ग्रन्थ को उच्चस्तरीय छपाई द्वारा आकर्षक बनाने का हम ने भरसक प्रयत्न किया है। शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने के लिये महाराज श्री ने सम्पादक मण्डल को विशेष सचेत किया और स्वयं भी प्रूफ पत्रों से ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का आह्निक क्रम से पारायण किया। फिर भी कोई ग़लती रह गई हो तो पाठक क्षमा करेंगे। इत्योंतत्सत्।

महाशिवरात्रि वि. सं. २०५६
४ मार्च सन् २०००

गुरुपादानुरागी
स्वर्ण लाल तुली

बृहदारण्यकोपनिषत् - खिलकाण्डम्

आह्निक-प्रदीपिका

प्रस्तावना

(श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री विभूषित
श्रीस्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज - वेदान्तसर्वदर्शनाचार्य)

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

अनादि काल से प्राणिमात्र के मानस में यही नैसर्गिक अभिलाषा रही है कि हम सम्पूर्ण दुःखों से सर्वथा छूट जायें और सबसे बड़ा आनन्द प्राप्त कर लेवें। जीवन के इस स्तर को परमेश्वर की प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति की संज्ञा अध्यात्मशास्त्र में दी गयी है। यद्यपि धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ की ओर भी लोक की बहुधा प्रवृत्ति देखी जाती है फिर भी इन तीनों की नश्वरता को प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रप्रमाण से समझ लेने से विवेकी इन्हें पीठ पीछे कर मोक्ष प्राप्ति की साधना में प्रवृत्त होता देखा जाता है। इसीलिये मोक्ष को परमपुरुषार्थ और धर्म, अर्थ एवं काम को केवल पुरुषार्थ कहा गया है। मोक्ष के स्वरूप निर्धारण में तथा उसके साधनों के निरूपण में दार्शनिकों का कुछ मतभेद है, फिर भी श्रुतिप्रतिपादित मोक्ष का स्वरूप त्रिविधदुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति ही मान्य है। ऐसा मोक्ष ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होता है। इसे श्रुति अपने कण्ठ से बतलाती है — **''न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके ऽमृतत्वमानशुः''**, **''नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय''**। अर्थात् ''न कर्म से, न पुत्रादि प्रजा से और न धन से ही मोक्ष मिलता है, किन्तु अनात्माभिमान के त्याग से कुछ एक मनीषियों ने मोक्ष प्राप्त किया है'', ''ब्रह्मज्ञान के सिवा मोक्ष का कोई दूसरा मार्ग नहीं है'' — यह श्रुति का डिण्डिम उद्घोष है। अन्यान्य दार्शनिकों ने भी दबी जबान से इसी स्वीकार किया है।

अपौरुषेय वेद के कर्म, उपासना एवं ज्ञान, ऐसे तीन काण्ड हैं। इनमें से ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। निष्काम भाव से कर्म और उपासना के अनुष्ठान से चित्त के मल तथा विक्षेप दूर हो जाते हैं, तत्पश्चात् साधक, वेदान्त श्रवणादि का मुख्य अधिकारी माना जाता है। **''कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते''** इत्यादि। श्रुति ने भी वेदानुवचन, तपोदान यज्ञादि को ब्रह्मजिज्ञासा यानी मुमुक्षा का ही साधन माना है, मोक्ष या मोक्ष के अन्तरंग साधन ब्रह्मज्ञान के प्रति इन्हें साधनरूप से स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार कर्म और उपासना के अनुष्ठान का भी चरम फल मोक्ष ही है। वेद के शिरोभाग वेदान्त को वेद का रहस्य कहा गया है। जिसके अनुष्ठान में शास्त्रविहित कर्म और उपासना का त्याग भी मनुस्मृति ने कहा है।

> **''तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।**
> **वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥** मनु. २।१६५
>
> **यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।**
> **आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥''** मनु. १२।९२

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" इस मुण्डक श्रुति में भी यही बात बतलायी गयी है। अतः मोक्ष साधन आत्मज्ञान का सम्पादन ही मुमुक्षुओं का एकमात्र कर्तव्य है।

ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद में सभी ११८० शाखायें थीं। जिनमें से कालगति से बहुत शाखायें इस समय उपलब्ध नहीं हैं। प्रत्येक शाखाओं की उपनिषद् मानी गयी हैं। सम्प्रति उपलब्ध उपनिषदों में ईशादि दशोपनिषद् पर भगवत्पादभगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी का प्रसन्न, गम्भीर भाष्य विद्वानों के हृदय को अपनी ओर बरबस खींच लेता है। वे विद्वान् मुक्तकण्ठ से शाङ्करभाष्य की प्रशंसा करने लग जाते हैं। यद्यपि परवर्ती कुछ विद्वानों ने शाङ्करभाष्य एवं उसके केवलाद्वैतसिद्धान्त पर धूलिप्रक्षेप करने का असफल प्रयत्न किया है, फिर भी विद्वत्समाज में शाङ्करभाष्य एवं उसका सिद्धान्त सदा मान्य रहा है और आगे भी समादरणीय रहेगा। सभी उपनिषदों की अपेक्षा कलेवर तथा अर्थ में बड़े होने के कारण बृहद और अरण्य (वन) में अध्ययनीय होने के कारण इसे बृहदारण्यक कहते हैं। जिस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिसंहिता के अन्तर्गत काण्व और माध्यन्दिनीशाखा में ईशावास्योपनिषद् मिलती है, वैसे ही शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयिब्राह्मण के अन्तर्गत काण्व एवं माध्यन्दिनीशाखीय बृहदारण्यकोपनिषद् भी मिलती है। बृहदारण्यक के सभी ८ अध्याय हैं। प्रथम के ४ अध्यायों को मधुकाण्ड, तत्पश्चात् २ अध्याय याज्ञवल्कीयकाण्ड (मुनिकाण्ड) और अन्तिम २ अध्याय खिलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। बृहदारण्यक के प्रथम और द्वितीय अध्याय प्रवर्ग्य कर्म के अङ्ग हैं, क्योंकि इनमें अश्वमेधादि कर्मों का निपुणतम निरूपण किया गया है। वे कर्म विद्या के अङ्ग नहीं हैं। केवल अरण्य में अध्ययन के लिये ही विद्या की सन्निधि में इनका पाठ किया गया है। अतः प्रारम्भ के २ अध्यायों को उपनिषद् नहीं मानते हैं। अतएव उपनिषद् भाष्यकर्ता आद्यशङ्कराचार्य जी ने बृहदारण्यक के प्रारम्भिक दो अध्यायों पर भाष्य नहीं लिखा है। यही बात बृहदारण्यक वार्तिकसार में कही गयी है। मधुकाण्ड के तीसरे और चौथे अध्याय को बृहदारण्यकोपनिषद् मानकर आद्य शङ्कराचार्य जी ने इन पर भाष्य लिखा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रथम अश्वमेध ब्राह्मण में अश्व के अवयवों में विराट् के अवयवों की दृष्टि का विधान उपासना के लिये किया गया है। यह उपासना अश्वमेध कर्म संबन्धी होती हुई भी स्वतन्त्र है। इसीलिए इसे उपनिषद् माना है। इस विज्ञान का प्रयोजन यह है कि जिनका अश्वमेध कर्मानुष्ठान में अधिकार नहीं है, उन्हें इस उपासना के अनुष्ठानमात्र से ही अश्वमेधकर्मानुष्ठान का फल मिल जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रारम्भ में अश्वमेध ब्राह्मण पाठ का आशय यह भी है कि जिस प्रकार कर्म का फल संसार है, ऐसे ही उपासनासहित कर्म या केवल इस उपासना का फल भी संसार ही है, अर्थात् हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी मरणधर्मा और नश्वर हैं। इस प्रकार के फल का वर्णन भी प्रथम अश्वमेध ब्राह्मण में नहीं है किन्तु द्वितीय अग्नि ब्राह्मण के अन्त में फल बतलाया गया है। पृथक् फल का कथन न होने से दोनों ही ब्राह्मणों द्वारा एक ही उपासना बतलायी गयी है। अश्वमेधोपयोगी अग्नि की उत्पत्ति द्वितीय ब्राह्मण में बतलायी गयी है, जो अग्नि विराट् का अवयव है। अतः यह अग्नि विराट् बुद्धि से उपास्य है। कार्य कारण का अभेद घट भाष्य द्वारा अत्यन्त कुशलतापूर्वक भाष्यकारों ने कहा है। **"नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्"** (बृ. उ. १.२.१), इस मन्त्र में मृत्यु शब्द से मायाविशिष्ट चेतन (ईश्वर) को कहा गया है, जो सम्पूर्ण विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से अश्वमेधोपयोगी अग्नि का

भी वैसा ही कारण है। इस प्रकार दोनों ब्राह्मणों में अश्वमेध की ही उपासना बतलायी है; जिसका फल अपमृत्यु पर विजय प्राप्त करना है।

इस अध्याय के तृतीय उद्गीथ ब्राह्मण में शुद्ध्यादि गुणों से युक्त प्राण की उपासना हिरण्यगर्भ की प्राप्ति के लिये कही गयी है। मनुष्य ही प्रजापति है। इसके अन्तःकरण में आसुरी और दैवी ऐसी दो प्रकार की वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इनमें शास्त्रसंस्कार के बिना स्वभावतः स्वार्थपरायणता से युक्त आसुरी वृत्ति ही अधिकतर होती है। इसीलिये इसे ज्येष्ठ कहा है। शास्त्रसंस्कारयुक्त निःस्वार्थ वृत्ति पीछे से ही होती है और वह भी थोड़ी। अतः इस दैवी वृत्ति को कनिष्ठ कहा है। एक बार देवताओं ने असुरों पर विजय पाने के लिये क्रमशः वागादि इन्द्रियों को उद्गान करने के लिये कहा; किन्तु भोगासक्त होने के कारण ये सभी असुरों द्वारा पाप से वेध दिये गये। स्वार्थपरायणता को ही पाप शब्द से कहा है। अन्त में मुख्यप्राण ने उद्गान किया। इसमें स्वार्थपरायणता न होने के कारण इससे टकराकर असुर परास्त हो गये। अतः निःस्वार्थ भाव से अहोरात्र क्रियाशील मुख्य प्राणको श्रेष्ठ मानकर इसकी उपासना करे। जिससे अध्यात्मपरिच्छेद से छूटकर अधिदैवभाव हिरण्यगर्भ को उपासक प्राप्त कर लेता है। इस उपासना को उद्गीथविद्या भी कहते हैं। यहाँ पर प्राण की स्तुति अनेक प्रकार से की गयी है।

इस प्रथमाध्याय के '**सृष्ट्यादि सर्वरूपता**' नामक चतुर्थ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि केवल ब्रह्मविद्या ही मोक्ष का साधन है। पूर्वोक्त वैदिक कर्म, उपासना या दोनों का समुच्चयानुष्ठान मोक्ष का साधन नहीं है। उनका फल नश्वर होने के कारण अन्ततः अनर्थ का ही हेतु है। अतः मुमुक्षुओं को इनसे उपरत होकर मोक्ष के एकमात्र साधन ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये वेदान्त श्रवणादि का अनुष्ठान करना चाहिये। मन्वादि शरीर उत्पत्ति से पूर्व पुरुष की तरह शिरपादादि वाला विराडात्मा ही था। उसी विराडात्मा में अहं तथा पुरुष, ऐसे दो नाम उपासना के लिए कहे गए हैं। अविचारावस्था में अकेलापन भय का हेतु है और विचार से भय निवृत्त हो जाता है। अतः आज भी विचार से आत्मैकत्वदर्शन कर लेने पर भय मिट जाता है। इसी विराडात्मा से सम्पूर्ण विश्व उत्पत्ति का विस्तार बतलाया गया है। अद्वय आत्मा से जगद्विस्तार वर्णन का तात्पर्य अद्वैत बतलाने में है। वह परमात्मा क्षुरधान में छुरे के समान देहादि में नख से शिख तक व्याप्त है। वह प्राणनक्रिया करने से प्राण और दर्शनादिक्रिया करने से चक्षुरादि भी बन जाता है। व्यष्टिभाव की उपासना का परित्याग कर समष्टिभाव की ही उपासना करनी चाहिये। आत्मा वित्तादि सभी से प्रिय है। यदि वित्तादि को आत्मा से भिन्न मानकर प्रिय कहेगा तो वित्तादि के वियोग से उत्पन्न दुःख का अनुभव करना ही पड़ेगा। अतः ब्रह्मविद्या से ही सर्वभावापत्ति वामदेवादि में देखी गयी है। देवता भेददर्शी अज्ञानी के ही ऐश्वर्य के बाधक होते हैं; अभेददर्शी ज्ञानी के नहीं। इसलिये सम्पूर्ण चतुर्थ ब्राह्मण का उपदेश अद्वय आत्मदर्शन कराने में ही है।

प्रथमाध्याय के पञ्चम '**सप्तान्न**' ब्राह्मण में बतलाया गया है कि अज्ञानी पूर्वजन्म में कर्म और उपासना का अनुष्ठान कर उत्तर जन्म में भोग के लिये सप्तान्नरूप से जगत् की सृष्टि करता है। उत्कृष्ट कर्म और उपासना के फलस्वरूप वैराज पद को प्राप्त कर जगत् की सृष्टि करता है। यह बात चतुर्थ ब्राह्मण में कही गयी है। निकृष्ट (सकाम) कर्म और उपासना के फलस्वरूप मनुष्यादि पद को प्राप्त हुआ जीव अपने

भोग के योग्य सप्तान्न की सृष्टि करता है, यही बात इस पञ्चम ब्राह्मण में कही जा रही है। प्रथम मन्त्र से सूत्ररूप में सप्तान्न सृष्टि को बतलाकर इसी का विस्तार सम्पूर्ण ब्राह्मण द्वारा किया गया है। अन्त में सम्प्रदान कर्म का निरूपण कर अध्यात्म और अधिदैव प्राणदर्शनरूप व्रत की मीमांसा बतलायी गयी है।

प्रथमाध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में उपसंहार के लिये पूर्वोक्त विस्तृत अविद्याकार्य को संक्षेपरूप से कहा गया है। जगत् व्याकरण से पूर्वावस्था में कही जाने वाली अनात्मवस्तु सब नाम, रूप और कर्म; बस इतने ही है। इनमें देवदत्तादि नामविशेष का उपादान कारण नामसामान्यरूप वाणी ही है। शुक्लनीलादि रूप और स्पर्शादिविशेष का उपादान चक्षु:शब्दवाच्य रूपसामान्य अर्थात् प्रकाश्यमात्र है। ऐसे ही मनन, दर्शन, चलनादिक्रियाविशेष का उपादान आत्मा (देह) है क्योंकि इन्हीं सामान्य से सम्पूर्ण विशेषों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अविद्या के विषय संसार को यहाँ तक दिखलाया है जो अध्यारोपात्मक है। इसके बाद द्वितीय अध्याय में पूर्वोक्त अध्यारोपित जगत् का अपवाद कर विद्या के विषय आत्मा को कहेंगे। इसी को वार्तिकसार में कहा है कि **"अध्यारोपापवादाभ्यां मधुकाण्ड प्रवर्तते। अध्यारोप्य तृतीयेन चतुर्थेन त्वपोद्यते"**॥ आरण्यक दृष्टि से वार्तिककार ने तृतीय और चतुर्थ कहा है। उपनिषद् दृष्टि से प्रथम और द्वितीय अध्याय ही है।

मधुकाण्ड में प्रथम अध्याय के समान ही इसके द्वितीय अध्यय में भी ६ ब्राह्मण हैं। इनमें अजातशत्रु ब्राह्मण में गर्ग गोत्र में उत्पन्न ज्ञानाभिमानी बालाकि ब्राह्मण और तत्त्वज्ञानी काशिराज अजातशत्रु का संवाद है। **"नापृष्टं कस्यचिद्ब्रूयात्"** इस शास्त्रमर्यादा के अनुसार बिना पूछे उपदेश नहीं करना चाहिये। किन्तु दृप्तबालाकि ने बिना पूछे ही अजातशत्रु से कहा कि मैं तुझे ब्रह्म का उपदेश करूँ। गुणग्राही राजा ब्रह्मविद्या की महत्ता को जानता था। अत: उसके गर्वीलेपनरूप दोष की ओर ध्यान न देकर इस माङ्गलिक वचन के लिये एक सहस्र गौ भेंट कर दी। उसके बाद बालाकि ने आदित्यादि द्वादश स्थलों में ब्रह्मरूपता का आरोप किया, किन्तु राजा अजातशत्रु ने उन्हें परिछिन्न देवमात्र बतलाकर उन सबमें ब्रह्मरूपता का निषेध कर दिया। साथ ही उन उपासनाओं का विशिष्ट फल भी बतलाया। जिसे राजा अच्छी प्रकार जानता था। इससे अधिक बालाकि को ज्ञान नहीं था। अत: उसका गर्व चूर-चूर हो गया। विवश हो गार्ग्य ने ब्रह्मज्ञान के लिये तत्त्वज्ञ राजा की शरण ली। राजा गार्ग्य का हाथ पकड़कर महल के भीतर एक सोये हुए पुरुष के पास ले गया। उस सुषुप्त पुरुष को हे बृहन्, हे पाण्डरवास:, हे सोमराजा इत्यादि नाम लेकर पुकारा, किन्तु वह उठा नहीं। तत्पश्चात् हाथ से दबा-दबा कर उठाने से वह उठ गया। इस प्रसंग से श्रुति ने यह सिद्ध किया है कि नामरूपाभिमानी देव वस्तुत: विज्ञानमय आत्मा नहीं है। वह तो नामरूप से परे सर्वत्र अधिष्ठानरूप से विद्यमान है। सुषुप्ति काल में वह चक्षुरादि विज्ञान को अन्त:क्रण में प्रतिफलित चिदाभास द्वारा ग्रहण कर हृदयाकाश में सोता है। उसी की सत्ता और चेतनता से सभी सत्, चेतन एवं क्रियाशील होते हैं। वह इन्द्रियों का प्रेरक होने से प्राण है किन्तु प्राणों का भी प्रेरक होने से प्राणों का प्राण है। यही उस आत्मा की रहस्यमय उपनिषद् है।

जगज्जन्मादि कारण अद्वय ब्रह्म का स्वरूप अजातशत्रु ब्राह्मण में बतलाया गया। अब द्वितीय अध्याय के द्वितीय शिशुब्राह्मण में जगत् का स्वरूप बतलाते हैं। इन्द्रियों का प्रेरक शरीरमध्यवर्ती मुख्य प्राण ही

शिशु है। यह वर्तमान देह उसका आधान है। शिर: प्रत्याधान है। अन्नपानजनित शक्तिरूप प्राण स्थूणा (कील) है और अन्न बाँधने की रस्सी के समान है। ऐसे शिशु की उपासना करने वाला शिर:स्थित सात शत्रुओं को अपने वश में कर लेता है। विषयासक्ति के कारण दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुखरूप आयतन में रहने वाली सातों इन्द्रियाँ कल्याणकामी पुरुष के शत्रु के समान हैं; जिन्हें पूर्वोक्त प्राणोपासक वश में कर लेता है। इन्हीं का वर्णन इस ब्राह्मण में विभिन्न नाम और प्रकार से किया गया है।

अजाशत्रु ब्राह्मण के अन्त में **''प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्''** इस वाक्य से ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है। तत्पश्चात् शिशु ब्राह्मण में उन प्राणों की सात संख्या भी बतला दी गयी। अब द्वितीय अध्याय के तृतीय मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण में समस्त उपाधियों के निषेध द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व को स्पष्ट रूप से बतलायेंगे। ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप हैं। इनमें पृथिवी, जल और अग्नि मूर्त्त हैं एवं वायु और आकाश अमूर्त्त हैं। इन्हीं का विस्तार अध्यात्म तथा अधिदैव जगत् है। उपर्युक्त दोनों रूपों का **''अथात आदेशो नेति नेति''** इस वाक्य से निषेध कर निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप का बोध कराया गया है। निषेध की इतनी स्पष्टता एवं तत्त्वज्ञान के लिये निषेधवाक्य पर इतनी निर्भरता औपनिषद सिद्धान्त की अपूर्वता का द्योतक है। नि:सन्देह उपनिषद् के बिना औपनिषद ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो नहीं सकता। अत: निषेध श्रुतिवाक्य ब्रह्मतत्त्वावगम कराने में सर्वथा समर्थ है।

मधुकाण्ड के चतुर्थ अध्याय में चतुर्थ मैत्रेयी ब्राह्मण है और मुनिकाण्ड के छठे अध्याय में भी यह प्रसंग आता है। एक ही ब्राह्मण का दो बार होना अभ्यास द्वारा तात्पर्य का निश्चायक है। सम्प्रदाय भेद भी मैत्रेयी ब्राह्मण के द्विरावृत्ति में कारण हो सकता है। मधुकाण्ड आगमप्रधान है और मुनिकाण्ड उपपत्तिप्रधान है। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं। दोनों को सम्पूर्ण धनसम्पदा का बँटवारा कर ऋषि स्वयं गार्हस्थ्य जीवन से उठकर संन्यास ग्रहण करना चाहते थे। अत: मैत्रेयी से कहा, अरी मैत्रेयी! आओ, कात्यायनी के साथ तुम्हारी धनसम्पदा विभाजन कर दूँ। कात्यायनी सामान्य बुद्धि थी, किन्तु मैत्रेयी तो ब्रह्मवादिनी थी। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य से उसने कहा, कि मुझे धन से पूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी मिल जाये, तो मैं अमर हो जाऊंगी या नहीं। महर्षि ने कहा — नहीं नहीं, धनसम्पत्ति से कोई अमर नहीं हो सकता। जैसा धनादिसम्पन्न व्यक्ति का जीवन होता है, ऐसा ही तुम्हारा भी जीवन होगा। अमरत्व की आशा वित्त से नहीं की जा सकती। इस पर मैत्रेयी ने कहा कि जिसे लेकर मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी। अत: अमरत्व साधन जिसे आप जानते हैं, मुझे तो उसी का उपदेश करें। मैत्रेयी की यही तीव्र मुमुक्षा एवं जिज्ञासा महर्षि याज्ञवल्क्य के उपदेश की प्रेरणा स्रोत बन गयी। इस प्रकार की मुमुक्षा जहाँ नहीं है; उसके प्रति किया हुआ परमार्थतत्त्व का उपदेश सद्य: फलप्रद नहीं होता। वेदान्त विचार से पूर्व विवेक वैराग्यादि साधनों को अपनाना आवश्यक है। इसीलिये महर्षि ने आत्मतत्त्व उपदेश से पूर्व पति पत्नी, पुत्र, वित्तादि में प्रेम आत्मा के लिये बतलाया, जिससे कि आत्मा से भिन्न वस्तु में सर्वथा राग हट जावे। आत्मा ही परम प्रेम का विषय है। इससे आत्मा में परमानन्दरूपता की सिद्धि भी हो जाती है। अत: सच्चिदानन्द आत्मा ही दर्शन के योग्य है, श्रवण, मनन और निदिध्यासन के योग्य है। आत्मा सम्पूर्ण विश्वकल्पना का अधिष्ठान है इसीलिये हे मैत्रेयी! आत्मा के विज्ञान से सम्पूर्ण विश्व विज्ञात हो जाता है। यदि आत्मा से भिन्न किसी को भी जानेगा, तो वह उस भेददर्शी के पराभव (ब्रह्मात्मस्वरूप अमृतत्व से पतन) का

कारण बन जायगा। इससे आगे दुन्दुभि आदि अनेक दृष्टान्तो से यही सिद्ध किया है कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च चिदात्मा से भिन्न नहीं है। जैसे दुन्दुभि, शंख और वीणा आदि के शब्द सामान्य का ग्रहण पहले होता है। तत्पश्चात् तालस्वर आदि से युक्त शब्दविशेष का ग्रहण होता है। वैसे ही पहले चिदात्मा का ग्रहण होता है। उसके बाद ही उसमें कल्पित नाम रूपात्मक जगत् का ग्रहण होता है। जैसे प्रकाश का नेत्र से ग्रहण हुए विना नीलादि रूप को कोई देख नहीं सकता; ठीक उसी प्रकार चिदात्मा को देखने के बाद ही उसमें कल्पित नाम रूपात्मक जगत् को देख सकता है; यहाँ पर दुन्दुभि आदि शब्द से श्रुति ने उनसे उत्पन्न शब्द सामान्य को ही कहा है, जिसमें तालस्वरादि युक्त शब्दविशेष कल्पित हैं। जैसे गीली लकड़ी के साथ अग्नि का संयोग होने पर पहले धुआँ निकलता है, तत्पश्चात् चिनगारियाँ छिटकती है। वे चिनगारियाँ अग्नि से भिन्न नहीं हैं। ऐसे ही परमार्थ ब्रह्मात्मतत्त्व से माया सम्बन्ध के कारण छिटकते हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उससे भिन्न नहीं हैं। नाम रूपात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च का उसी परमार्थतत्त्व में विलय दिखलाने के लिए जल समुद्र आदि का दृष्टान्त श्रुति ने दिया है। जैसे समुद्र का जल बादलों द्वारा आकृष्ट कर पर्वतादि पर बरसाने के बाद नदी आदि के रूप में छलकता हुआ अन्ततः समुद्र में लीन हो जाता है। ऐसे ही नाम रूपात्मक जगत् परमात्मा से निकलकर अन्ततः परमात्मा में ही समा जाता है; अतः यह प्रपञ्च परमात्म-स्वरूप ही है। जैसे समुद्र का जल मिट्टी और उष्णता के सम्बन्ध से खिल्यभाव (कठिन) हो जाता है और पुनः पानी में डालते ही अपने कारण सम्पर्क से उस सैन्धवघन की कठिनता मिट जाती है एवं सैन्धवघन (नमक का टुकड़ा) विलीन हो जलमात्र शेष रह जाता है। ऐसे ही माया के कार्यकरण संघात अपने अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व में मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं एवं संघातप्रयुक्त जीवभाव भी निवृत्त हो जाता है; क्योंकि जीवभाव के निमित्त संघात के निवृत्त हो जाने पर संघातनिमित्तक जीवभाव भी निवृत्त हो जाता है। फिर तो ब्रह्म ही शेष रह जाता है। इसी को श्रुति ने "**महद्भूतमनन्तरमपारं विज्ञानघनम्**" कहा है। मरने के बाद संज्ञा सामान्य का अभाव नहीं होता, किन्तु अन्तःकरणादि उपाधियों के रहते जो विशेष विज्ञान होता है, वह विज्ञान उपाधि की अभाव दशा में नहीं होता क्योंकि यह आत्मा अविनाशी है। इसका कभी भी उच्छेद नहीं होता है। जहाँ पर अविद्या दशा में रज्जु में आरोपित सर्प की भाँति द्वैत खड़ा हो जाता है; वहाँ पर ही दूसरा दूसरे को देखता है, सुनता है इत्यादि दर्शनादि विशेषविज्ञान होता है। किन्तु रज्जुतत्त्व के ज्ञान के समान जहाँ पर कल्पित विश्व के अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व का बोध हो गया; वहाँ पर द्वैत का अभाव हो जाने के कारण कौन, किससे, किसको देखेगा; कौन किससे, किसको सुनेगा इत्यादि सम्पूर्ण कर्ता, करण, क्रिया का अभाव सुस्पष्ट हो जाता है। जो सबका प्रकाशक है, भला उसे कौन प्रकाशित कर सकता है। इसीलिए विदेहकैवल्य दशा में विशेष विज्ञान का अभाव कहा है। इससे मैत्रेयी का सम्पूर्ण मोह निवृत्त हो गया और महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रति मोह में डालने की उसकी आशङ्का भी मिट गयी अर्थात् परिच्छिन्नता के मिट जाने पर शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सामान्य चैतन्य ही शेष रहता है।

मधुकाण्ड के चतुर्थ अध्याय मधु नामक पञ्चम ब्राह्मण में कहा है कि जैसे अनेक मधुकर अनेकों पुष्पों का सार लेकर मधु को बनाते हैं, वैसेही ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण भूतों की समष्टिकर्मसंस्कार के फलस्वरूप पृथिव्यादि जगत् का निर्माण होता है। अतः ये पृथिव्यादि जगत् सम्पूर्ण भूतों के कार्य हैं। वैसे ही पृथिव्यादि कारण सामग्री से सम्पूर्ण भूतों के कार्यकरण संघात का निर्माण होता है। अतः ये भूत भी

पृथिव्यादि के कार्य हैं। इस प्रकार पृथिव्यादि जगत् और ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त सभी भूतों में परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव रहने के कारण इनका परस्पर कार्यकारण भाव है। अतएव ये एक दूसरे के मधु हैं। इतना ही नहीं; प्रत्युत जो इन पृथिव्यादि के अधिष्ठानरूप नित्य, चैतन्य, आनन्दघन पुरुष है और जो शरीर आत्मा है। दोनों एक ही तत्त्व है। यही आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है और यह सब कुछ है। इस प्रकार इस मधु ब्राह्मण में अधिष्ठान दृष्टि से सम्पूर्ण प्रपञ्च की ब्रह्मरूपता बतलायी गयी है। **"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"** इस श्रुति ने तो अपनी माया शक्तियों के कारण परमात्मा का ही अनेक रूप होना बतलाया है। इस मधुविद्या का उपदेश अति आग्रह करने पर अश्विनीकुमारों को दध्यङ् आथर्वण ऋषि ने घोड़े के शिर से किया था। पता लगने पर पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज इन्द्र ने ऋषि के अश्वशिर को काट डाला, जिस शिर से दध्यङ् आथर्वण ऋषि ने मधुविद्या का उपदेश किया था। उस घोड़े के शिर कट जाने पर पुनः अश्विनीकुमारों ने ऋषि का अपना शिर ज्यों का त्यों जोड़ दिया। इससे इस मधुविद्या की दुर्लभता सिद्ध होती है, क्योंकि इस विद्या को सीखने के लिए ऐसे उग्रकर्म किये जा सकते हैं। यह विद्या देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। इसीलिए अनधिकारी समझ कर ऋषि ने इन्द्र को इसका उपदेश नहीं किया और अश्विनीकुमारों को इस देवदुर्लभ मधुविद्या को प्राप्त करने के लिये आचार्य के शिरश्छेदनरूप उग्र कर्म करना पड़ा। इसके आगे मधुवंश नामक षष्ठ ब्राह्मण में मधुविद्या की वंशपरम्परा का वर्णन कर मधुकाण्ड समाप्त हो जाता है। इसका पाठ विद्याप्रयुक्त ऋण के अपनयन, विद्या सम्प्रदाय प्रवर्त्तक ऋषियों के प्रति कृतज्ञताप्रदर्शन एवं विद्यावंश संस्मरण हेतु पुण्यसम्पादन के लिए अवश्य करना चाहिये। वंश वर्णन से ब्रह्मविद्या की स्तुति भी हो जाती है। जिसे इतने बड़े-बड़े महान् पुरुषों ने अङ्गीकार किया है, अतः महापुरुषों से अनुगृहीत यह विद्या अत्यन्त उत्कृष्ट एवं भाग्यशालिनी है इसमें प्रथमान्त शिष्य है और पञ्चम्यन्त आचार्य है अर्थात् अमुक से अमुक ने इस विद्या को प्राप्त किया है।

इसके बाद दो अध्याय याज्ञवल्कय (मुनि) काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। मधुकाण्ड आगमप्रधान है और मुनिकाण्ड उपपत्ति (युक्ति) प्रधान है। इसमें वाद, कथा एवं जल्पकथा के रूप में उक्त विद्या का ही विस्तार है। आत्मतत्त्व प्रकाशन में प्रवृत्त आगम और उपपत्ति करतलामलकवत् परमार्थतत्त्व को दिखला सकते हैं। क्योंकि **"श्रोतव्यो मन्तव्यः"** ऐसा श्रुति ने भी कहा है। अतः पूर्वोक्त आगम से अवगत अर्थ हो ही परीक्षापूर्वक निश्चय कराने के लिये उपपत्तिप्रधान मुनिकाण्ड को कहते हैं। आख्यायिका प्रकृत विद्या की स्तुति के लिये अथवा उपायविधानपरक होती है। **"पुष्कलेन धनेन वा"** इत्यादि शास्त्रों में दान को भी विद्या प्राप्ति का उपाय कहा है; जो यहाँ पर उपलब्ध हो रहा है। विद्वानों के साथ वाद करना भी विद्या प्राप्ति का उपाय न्यायविद्या में देखा गया है। **"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"** इत्यादि। वह विद्याप्राप्ति उपाय वादकरण भी इस अध्याय में स्पष्ट दिखाई देता है। विद्वानों के सम्पर्क से विद्या की वृद्धि प्रत्यक्ष देखी जाती है। अतः विद्या प्राप्ति उपाय प्रदशर्न के लिये यह आख्यायिका है।

विदेह देश के प्रसिद्ध राजा जनक ने बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ द्वारा यजन किया। जिसमें निमन्त्रित या दर्शनार्थी कुरु एवं पाञ्चाल देश के बहुत से ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस विद्वत्समुदाय को देखकर उस राजा को विशेष जानने की उत्कण्ठा हो उठी कि इन एकत्रित ब्राह्मणों में बड़े प्रवक्ता कौन हैं। अतः उसने

अपनी गोशाला में एक हजार गायें रुकवा दीं, जिनमें प्रत्येक के सींगों में दश-दश पाद सोना बँधा था। राजा ने उन ब्राह्मणों से कहा — हे पूज्य ब्राह्मणों! आप में जो ब्रह्मिष्ठ हो, वह इन गायों को ले जाये। इसे सुन उन ब्राह्मणों में से किसी को भी अपने को ब्रह्मिष्ठा की प्रतिज्ञा करने का साहस नहीं हुआ। उन्हें साहसहीन देख याज्ञवल्क्य ने अपने सामविधि श्रवण करने वाले ब्रह्मचारी शिष्य से गायों को गुरुकुल की ओर हाँकने के लिये कहा। इससे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये। उन क्रुद्ध ब्राह्मणों में एक, राजा जनक का अश्वल नामक होता था। उसने याज्ञवल्क्य से पूछा — हे याज्ञवल्क्य! हम सबमें तुम्हीं ब्रह्मिष्ठ हो। महर्षि याज्ञवल्क्य ने सच्चे तत्त्वज्ञ के अनुरूप ही उत्तर दिया। ब्रह्मिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं। इस समय हमें गो की इच्छा है। व्यवहार से अपने में ब्रह्मिष्ठता की प्रतिज्ञा करने वाले उस याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने मन में प्रश्न करने का निश्चय कर लिया। यहाँ से अश्वल ब्राह्मण प्रारम्भ होता है।

मधुकाण्ड से उद्‌गीथ ब्राह्मण में पाङ्क्त कर्म द्वारा यजमान के मृत्यु से पार होने का संक्षिप्त वर्णन हो चुका है। उसमें आये दर्शन विशेष के लिये ही यहाँ विस्तार से कह रहे हैं। अश्वल ने कहा — हे याज्ञवल्क्य! जो यह ऋत्विग् अग्न्यादि सभी साधन स्वाभाविक आसक्तियुक्त कर्म से व्याप्त है, इतना ही नहीं, बल्कि मृत्यु द्वारा वश में किया हुआ है; भला ऐसी मृत्यु की व्याप्ति का अतिक्रमण किस दर्शनरूप साधन से यजमान कर सकता है। याज्ञवल्क्य ने कहा — होता ऋत्विगरूप अग्नि और वाक् से। तात्पर्य यह है कि जो यह अधियज्ञ होता ऋत्विग और अध्यात्म होता वाक् है; दोनों ही परिच्छिन्न साधन उपर्युक्त मृत्यु से व्याप्त हैं एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। इन दोनों में अधिदैवत अग्नि दृष्टि करने पर मुक्ति होती है, अर्थात् इनमें अग्निस्वरूप दर्शन ही मुक्ति है। अतः परिच्छिन्न होता ऋत्विग् और वाक् अपरिच्छिन्न अधिदैवताग्नि रूप से देखे जाने पर यजमान की मुक्ति का साधन है। इस अपरिच्छिन्न दृष्टि रूप मुक्ति का फल जो अपरिच्छिन्न अधिदैवत अग्नि की प्राप्ति है, वही अतिमुक्ति है। अर्थात् मुक्ति ही अतिमुक्ति का साधन है। पुनः अश्वल ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह जो कुछ है सभी दिन और रात्रि से व्याप्त है एवं इनके अधीन है। ऐसी स्थिति में किस साधन के द्वारा यजमान दिन और रात्रि की व्याप्ति को पार कर सकता है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया — अध्वर्यु ऋत्विग् और चक्षु रूप आदित्य के द्वारा। अर्थात् यज्ञ का अध्वर्यु और यजमान का नेत्र दोनों ही परिच्छिन्न हैं। इनमें जब आदित्य दृष्टि करेगा, तब ये दोनों अपने-अपने परिच्छिन्न दृष्टि से न दीखने पर अपरिच्छिन्न आदित्य दृष्टि से देखे जाएँगे। यह आदित्य दर्शन ही मुक्ति है और आदित्य भाव की प्राप्ति अतिमुक्ति है। अतः आदित्य भावापत्तिरूप अतिमुक्ति का साधन अध्वर्यु और नेत्र में आदित्य दर्शनरूप मुक्ति ही है। आदित्य में दिन और रात्रि का विभाग नहीं है। अतएव आदित्य भावापन्न पदार्थ भी अहोरात्र के परिच्छेद से मुक्त हो जाता है। अहोरात्र का परिच्छेदक आदित्य है किन्तु प्रतिपदा आदि तिथियों का परिच्छेदक आदित्य नहीं है, अपितु चन्द्रमा है। अतः अश्वल ने याज्ञवल्क्य से पुनः पूछा — यह जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त हैं एवं इनके द्वारा वशीभूत है। ऐसी दशा में किस साधन से यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति को पार कर सकता है। याज्ञवल्क्य ने कहा — उद्‌गाता ऋत्विग् से और प्राण से, क्योंकि यज्ञ का उद्‌गाता प्राण ही है और जो प्राण है, वही वायु है एवं वही उद्‌गाता है। अतः उद्‌गाता तथा प्राण में परिच्छिन्नदृष्टि निवृत्ति के लिए अपरिच्छिन्न अधिदैवत वायु दृष्टि करना ही मुक्ति है। इस दृष्टि के फलस्वरूप चन्द्रभावापत्ति ही अतिमुक्ति यजमान की है। चन्द्रमा

में प्रतिपदादि तिथिप्रयुक्त पूर्वपक्ष और अपर नहीं है। अतएव चन्द्रभावापन्न पदार्थ पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से सर्वथा मुक्त हो जाता है। यद्यपि चन्द्रमा पूर्वपक्ष तथा अपरपक्ष का कारण है, इसलिये इनकी व्याप्ति से मुक्ति पाने के लिये यजमान को यज्ञ के साधनों में चन्द्रदृष्टि करनी चाहिये; पर श्रुति ने तो यज्ञ के साधन उद्गाता और प्राण में वायु दर्शन करने को कहा है। तथापि चन्द्रमा में वृद्धिक्षय का निमित्त वायु ही है। अतः वायु भावापन्न पुरुष तिथ्यादि काल को पार कर जाता है — ऐसा कहना युक्ति युक्त ही है। अपरिच्छिन्न लोकप्राप्ति के मार्ग के विषय में अश्वल याज्ञवल्क्य से पूछता है कि यह जो अन्तरिक्ष है, वह तो निरालम्ब सा है; फिर भला यजमान किसके सहारे स्वर्गलोक में चढ़ता है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ब्रह्मा ऋत्विक् और मनरूप चन्द्रमा से। निःसन्देह यज्ञ का ब्रह्मा मन है और यह मन चन्द्रमा है। अतः परिच्छिन्न अधिभूत ब्रह्मा और अध्यात्म मन में अपरिच्छिन्न अधिदैवत चन्द्रदृष्टि करने से अपरिच्छिन्न चन्द्ररूप आलम्बन द्वारा यजमान कर्मफल स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है। बस यही अतिमुक्ति है। इस प्रकार अतिमोक्षों का वर्णन कर सम्पदों का वर्णन इस अश्वल ब्राह्मण में किया है।

अश्वल ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि आज कितनी ऋचाओं से होता इस यज्ञ में शस्त्र शंसन करेगा। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया — तीन ऋचाओं से। वे हैं; पुरोऽनुवाक्या, याज्या और शस्या। याग से पूर्व प्रयुक्त ऋचाएँ पुरोऽनुवाक्या, यागार्थप्रयुक्त ऋचाएँ याज्या और शस्त्रकर्म में प्रयुक्त ऋचाएँ शस्या कही जाती है। सभी ऋचाएँ इतनी हैं। अतः इनके द्वारा पुरुष सम्पूर्ण प्राणि समुदाय पर विजय प्राप्त कर लेता है। अश्वल ने पुनः पूछा कि आज इस यज्ञ में अध्वर्यु कितनी आहुतियों द्वारा होम करेगा। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया — तीन से। जो समिधाज्यादि आहुतियाँ होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं, जो तिल-यवादि आहुतियाँ होम करने पर अत्यन्त शब्द करती हैं एवं जो दुग्ध सोम की आहुतियाँ होम करते ही पृथिवी पर सो जाती हैं; बस ये ही तीन हैं। उपर्युक्त तीनों आहुतियों से यजमान लक्षण में समानता रहने के कारण क्रमशः देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक को जीत लेता है। अश्वल ने पूछा — आज यज्ञ में दक्षिण की ओर सब पर आसीन ब्रह्मा कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है। "**देवताभिः**" में बहुवचन प्रासङ्गिक है अथवा प्रतिवादी को व्यामोह में डालने के लिये किया गया है क्योंकि देवता एक है; इसे अश्वल भी जानता है। याज्ञवल्क्य ने कहा — एक देवता से। वह देवता मन ही है। वह मन ही वृत्तिभेद से अनन्त है। "**अनन्ता वै विश्वेदेवाः**" इस प्रकार अनन्तता में सादृश्य होने के कारण वह मनरूप देवता के द्वारा अनन्तलोक को जीत लेता है। अश्वल ने फिर पूछा — आज इस यज्ञ में उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा। कुछ ऋचाओं के ऋक्साम समुदाय का ही नाम स्तोत्रिया है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया — तीन का। वे पुरोऽनुवाक्या, याज्या और शस्या ही तीन हैं। 'प' शब्द ही समानता रहने के कारण अध्यात्म में प्राण ही पुरोऽनुवाक्या है। आनन्तर्य समानता के कारण अपान ही याज्या है और व्यान ही शस्या है क्योंकि प्राण और अपान की अभाव दशा में ही ऋचाओं का उच्चारण करता है। लोक सम्बन्धी सादृश्य होने के कारण इन तीनों ऋचाओं द्वारा क्रमशः पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक को जीत लेता है। इस प्रकार अपने प्रश्नों का यथार्थ उत्तर पाकर अश्वल चुप हो गया।

उसके बाद द्वितीय आर्तभाग ब्राह्मण में जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न जारत्कारव आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा — ग्रह कितने और अतिग्रह कितने हैं एवं वे कौन-कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया — आठ

ग्रह और आठ अतिग्रह हैं। इनमें घ्राण, वाग्, रसना, चक्षु:, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वग् ग्रह हैं। जो गन्धादि अपने-अपने विषयों से गृहीत हैं। अतएव ये विषय अतिग्रह हैं। आर्तभाग ने पुनः पूछा — यह जो कुछ है, सब मृत्यु का खाद्य है; पर इस मृत्यु का भक्षक देवता कौन है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया — निःसन्देह अग्नि ही मृत्यु है, जो जल का भक्ष्य है। इस प्रकार के ज्ञान से पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। आर्तभाग ने पुनः पूछा कि इस प्रकार परमार्थ ज्ञानरूप मृत्यु के द्वारा मृत्यु को खा लिये जाने पर शरीर छोड़ता है; तो उसे मरने वाले विद्वान् से पूर्वोक्त वागादि ग्रह और उनके विषयरूप अतिग्रह उत्क्रमण करते हैं या नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा — नहीं। जैसे समुद्र में तरंगें लीन हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्म स्वरूप में अभिन्न भाव से स्थिति प्राप्त उस विद्वान् में ही कार्य-करण सभी लीन हो जाते हैं। आर्तभाग ने फिर पूछा — मृतपुरुष को क्या नहीं छोड़ता। याज्ञवल्क्य ने कहा — नाम नहीं छोड़ता क्योंकि नाम अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं। अतः नाम से अनन्तत्वाधिकारी विश्वेदेवों को आत्मभाव से प्राप्त कर इस अनन्त दर्शन से वह अनन्तलोक को ही जीत लेता है। आर्तभाग ने पुनः पूछा कि जब मरे हुए अज्ञानी के वागादि इन्द्रियों के उपकारक अग्न्यादि देव अपना उपकार (सहयोग) करना छोड़ देते हैं, तब यह पुरुष कहाँ रहता है। याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग को एकान्त में ले जाकर वादियों के अभिमत (जीव के आश्रयस्थान) स्वभावादि का खण्डन कर कर्म को ही जीव का आश्रय स्थान बतलाया क्योंकि कार्यकरण संघात के पुनर्ग्रहण में पुण्य पाप कर्म ही निमित्त कारण है। यथार्थ उत्तर सुनकर आर्तभाग चुप हो गया।

तत्पश्चात् तृतीय भुज्यु ब्राह्मण में कहा गया है कि केवल कर्म या उपासना सहित कर्म का फल संसार ही है, मोक्ष नहीं है। मद्रास (मद्रदेश) में भ्रमण करते हुए गन्धर्व से दिव्य ज्ञान प्राप्ति के अभिमान वाले लह्य के पौत्र भुज्यु ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि पारिक्षित कहाँ रहे। याज्ञवल्क्य ने कहा — जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं, वहाँ पारिक्षित रहे। साथ ही भुवनकोश को भी बतला दिया। इस प्रकार गन्धर्व ने वायु की ही प्रशंसा की थी। सम्पूर्ण भूतों में विविधरूप से व्याप्त वायु व्यष्टि है और केवल सूत्रात्मारूप से समष्टि वायु ही है। इस प्रकार जानने वाला पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मरकर फिर वह नहीं मरता। अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर सुन भुज्यु चुप हो गया।

चतुर्थ उषस्त ब्राह्मण में आत्मा के अस्तित्व और निरुपाधिक स्वरूप को जानने के लिए चक्र के पुत्र उषस्त ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि जो साक्षादपरोक्ष-ब्रह्म सर्वान्तर आत्मा नाम से प्रसिद्ध है, उसे गो के सींग पकड़कर जैसे दिखलाया जाय, वैसे मुझे दिखला दो। याज्ञवल्कय ने कहा — यह कार्यकरण संघात जिससे आत्मवान् (सत्ता एवं स्फूर्ति वाला) हो रहा है, वही तेरा स्वरूप है। वही प्राणनादिक्रिया रूप उपाधि के कारण प्राणादि नाम से कहा जाता है। निरुपाधिक आत्मा का वर्णन कोई भी पुरुष गोशृङ्गग्रहण की भांति कर नहीं सकता। तुम दृष्टि के द्रष्टा को घटादि विषय के समान देख नहीं सकते। यद्यपि चक्षु:संयुक्त अन्तःकरण की वृत्तिरूप लौकिक दृष्टि उत्पत्ति विनाशशील है, तथापि द्रष्टा की स्वरूपभूत दृष्टि नित्य है। उसे दृष्य वस्तु की भांति नहीं देख सकते हो। श्रुति के श्रोता, मति के मन्ता और विज्ञाति के विज्ञाता को कोई भी अपनी लौकिक श्रुति, मति एवं बुद्धि का विषय नहीं बना सकता है। यही तुम्हारे कार्यकरण संघात का आत्मा है। इससे भिन्न सब नाशवान् तुच्छ है। अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर उषस्त पाकर चुप हो गया।

उसके बाद पंचम कहोल ब्राह्मण में पूर्व ब्राह्मणोक्त आत्मा का ही अनुवाद कर उसमें क्षुधापिपासादि संसार धर्म से रहित होने की बात कहोल ने कुछ विशेष जानने की इच्छा से पूछी। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि इस असंसारी आत्मा को जानने की इच्छा से अथवा जानकर ब्राह्मण पुत्रादि त्रिविध एषणा से मुक्त हो भिक्षाचर्या करते हैं। अतः आत्मजिज्ञासु संन्यासी विधिवत् श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा इसी आत्मा को जानकर ब्राह्मण (कृतकृत्य) हो जाता है। इस प्रकार क्षुधा-पिपासादि सम्पूर्ण संसार धर्मरहित नित्य तृप्त आत्मस्थिति को ही ब्राह्मण पद कहते हैं। इससे भिन्न अविद्या विषय एषणात्रय स्वप्न, माया एवं मरीचि उदक की भांति तुच्छ है। इस प्रकार अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाकर कहोल भी चुप हो गया।

इसके आगे गार्गी ब्राह्मण से लेकर शाकल्य ब्राह्मण पर्यन्त पूर्वोक्त सर्वान्तर आत्मा के बोध कराने के लिए कहा गया है। अन्तर्बाह्यभावरूप से व्यवस्थित पृथिव्यादि में बाह्य-बाह्य निराकरण करते हुए द्रष्टा के साक्षात् सर्वान्तर सभी संसार धर्म से रहित मुख्य आत्मा के दर्शन कराने के लिए प्रसंग प्रारम्भ किया जाता है। षष्ठ गार्गी ब्राह्मण में वचक्नु की पुत्री गार्गी और याज्ञवल्क्य के संवाद से यह सिद्ध होता है कि पृथिवी, जल, वायु, अन्तरिक्षलोक, गन्धर्वलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक तथा ब्रह्मलोक में से पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर में ओत-प्रोत है। तत्पश्चात् ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है। गार्गी के इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि आगम से पूछने योग्य देवता को अनुमान के आधार पर पूछना अतिप्रश्न हो जायेगा। यदि तुझे मरना इष्ट नहीं है, तो अति प्रश्न न कर। इस बात को सुन गार्गी चुप हो गयी। सप्तम आरुणि ब्राह्मण में ब्रह्मलोक के अन्तरतम सूत्र को बतलाया गया है। अध्ययन के समय मद्रास में भ्रमण करते हुए आथर्वण कबन्धनामा गन्धर्व से दिव्य ज्ञान प्राप्ति के अभिमानी अरुणपुत्र उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह लोक, परलोक तथा सभी भूत जिसमें गुँथे हुए हैं, उस सूत्र और इनके नियामक अन्तर्यामी को जाने बिना ही तू ब्रह्मवेत्ता की सम्पदा गायों को यदि ले जाओगे, तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह लोक, परलोक एवं सभी भूत वायु से गुँथे हुए हैं। इस वायु के अभाव में मृत पुरुष के अंग वैसे ही बिखर जाते हैं, जैसे धागों के न रहने पर उसमें पिरोये हुए मण्यादि बिखर जाते हैं। अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर सुनकर उद्दालक ने शेष अन्तर्यामी को बतलाने के लिए कहा। याज्ञवल्क्य ने अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म जगत् में ईश्वर को ही नियामक बतलाया। जो सम्पूर्ण संसारधर्म से रहित तथा सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है; यह देखा नहीं जाता, किन्तु यह स्वयं चक्षु के पास होने से दर्शन स्वरूप है। वैसे श्रोत्र, मन और बुद्धि का भी विषय नहीं हैं, किन्तु इनके सन्निहित होने से श्रोता, मन्ता और विज्ञाता कहा जाता है। साथ ही इससे भिन्न कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता एवं विज्ञाता नहीं है अर्थात् स्वरूपतः द्रष्टृत्वादिधर्म रहित होता हुआ भी तत्तदुपाधियों से युक्त होने पर वही द्रष्टा इत्यादि भी है। इस तुम्हारे आत्मस्वरूप ईश्वर से भिन्न सब तुच्छ (नाशवान्) है। यथार्थ उत्तर सुन आरुणि उद्दालक चुप हो गया।

इसके बाद अष्टम अक्षर ब्राह्मण में सभ्य ब्राह्मणों तथा प्रतिवादी याज्ञवल्क्य की अनुमति प्राप्त कर गार्गी ने दो प्रश्न पूछे। जिनका उत्तर देना याज्ञवल्क्य के लिये दुष्कर है, ऐसा गार्गी समझती थी। प्रथम प्रश्न

से गार्गी ने पूछा — जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे, इन दोनों के मध्य में और स्वयं भी जो द्युलोक तथा पृथिवी है। इनके सिवा भूत, वर्तमान और भविष्य जो कहे जाते हैं, ये सबके सब किससे ओत-प्रोत हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा — उपर्युक्त व्याकृत जगत् अव्याकृताकाश में ओत-प्रोत है। गार्गी ने द्वितीय प्रश्न से पूछा — उक्त आकाश किसमें ओत-प्रोत है। गार्गी समझती थी कि यदि याज्ञवल्क्य इसे अवाच्य कहकर इसका उत्तर नहीं देता तो अप्रतिपत्तिनाम निग्रहस्थान से निगृहीत हो जायेगा और यदि अवाच्यतत्त्व के विषय में कुछ बोलेगा तो विप्रतिपत्ति नामक निग्रहस्थान से निगृहीत हो जायेगा। इन दोनों दोषों को को निवृत्त करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि इस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं। यह स्थूलादि से भिन्न है। यह न किसी का भक्ष्य है और न किसी का भक्षक है। यह सत्ता स्फूर्ति मात्र से ही सब पर अनुशासन कर रहा है। अतः इसके अनुशासन में सूर्यादि स्थित हैं एवं मर्यादा का अतिक्रमण कोई नहीं करता। इस अक्षर तत्त्व की सत्ता में ही दानादि कर्मों का फल निश्चित मानकर मनुष्य दाता की प्रशंसा करता है, देवगण यजमान का और पितृगण जीविका के लिए दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं। इस अक्षर को जाने बिना इस लोक में हजारों वर्ष तक किये हुए होमादि नाशवान् ही होते हैं। इस अक्षर को न जानकर मरा हुआ कृपण है। अतः उसको जन्मना मरना पड़ता ही है। पर इस अक्षर को जानकर मरा हुआ व्यक्ति ब्राह्मण है। यह अक्षर देखा सुना नहीं जाता, किन्तु यह दृष्टिस्वरूप, श्रुतिस्वरूप इत्यादि होने से द्रष्टृ, श्रोतृ, मन्तृ और विज्ञातृ है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा आदि नहीं है, बल्कि इससे भिन्न वस्तु तुच्छ, नाशवान् है। इसी अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है। गार्गी ने सभी सभ्य ब्राह्मणों से कहा कि आपमें से कोई इस ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ में जीत नहीं सकता। अच्छा हो, आप लोग नमस्कार करके इससे छुटकारा पा जावें। इतना कह कर गार्गी चुप हो गयी।

पूर्व ब्राह्मणों के द्वारा बतलाये गये ब्रह्म का नियम्य देवताओं के प्राणपर्यन्त संकोच और आनन्त्यपर्यन्त विकास वर्णन द्वारा साक्षादपरोक्ष ज्ञान कराना है। इसके लिए यह नवम शाकल्य ब्राह्मण प्रारम्भ किया गया है। इसमें विदग्ध शाकल्य के पूछने पर याज्ञवल्क्य ने (देवसंख्याबोधक मन्त्रपद) निविद् द्वारा पहले ३३०६ देवसंख्या को बतलाकर देवताओं का विस्तार बतलाया। पुनः उनको बतलाते हुए तेंतीस, छः, तीन, दो, अध्यर्ध और अन्त में एक देव है, ऐसा कहा। संख्येय के विषय में पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि ३३०६ तो इनकी विभूतियाँ हैं। वस्तुतः आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति इस प्रकार तेंतीस हैं। अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठों सम्पूर्ण प्राणियों के बसाने वाले होने से वसु कहे जाते हैं। दश इन्द्रियाँ और मन इस मरणशील शरीर से निकलने पर सम्बन्धियों को रुलाते हैं; इसीलिये ये रुद्र कहे गये हैं। संवत्सर के अवयवरूप बारह मास द्वादश आदित्य इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि सभी प्राणियों की आयु और कर्मफल को ग्रहण कर ये चलते हैं। प्राणियों की हिंसा करने वाला वज्र इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है, जो यज्ञ साधन पशुगण के अधीन है। वसुरूप से पूर्वोक्त अग्न्यादि में चन्द्रमा और नक्षत्रों को छोड़कर तेंतीस देवताओं के रूप में अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक ये छः ही हैं। अग्नि और पृथवी को मिलाकर एकदेव, वायु और अन्तरिक्ष को एक कर देने पर दूसरा देव तथा आदित्य और द्युलोक को एक करने पर तीसरा देव होता है। अतः पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीनों लोक ही तीन देव हैं। वैसे ही अन्न और प्राण में पूर्वोक्त सबका अन्तर्भाव

हो जाने से दो ही देव है। एक होते हुए भी वायु को अध्यर्ध इसलिये कहा जाता है क्योंकि वायु के रहने पर ही यह सब अधि ऋद्धि को प्राप्त होता है। एक देव प्राण है, वह ब्रह्म है। इतना ही नहीं; बल्कि सर्वदेवरूप होने के कारण वह महद्ब्रह्म है। इसीलिये उसको परोक्षार्थवाचक **'त्यत्'** ऐसे शब्द से कहते हैं। इस प्रकार अनन्त देवों का निविद्संख्याविशिष्ट में अन्तर्भाव किया। पुनः उनका तेंतीस आदि में अन्तर्भाव करते-करते अन्त में प्राण को शेष रखा। अतः एक, अनन्त और मध्यवर्ती संख्या से विशिष्ट एक प्राण ही है। उसके बाद प्रश्नोत्तर द्वारा उसी प्राणब्रह्म के आठ भेद बतलाये गये हैं। जिस देव का आश्रय पृथिवी है, देखने का साधन होने से अग्नि जिसका लोक है, संकल्पादि कार्य करने का साधन मन जिसकी ज्योति है; ऐसा यह पृथिवी का अभिमानी देव कार्यकरण संघात वाला है। वही पार्थिवांश शरीर में होने से शारीर कहा जाता है। उस शारीर देव का देवता अमृत है। खाये हुए अन्न का जो रस माता के शरीर में बीज के आश्रयभूत लोहित की निष्पत्ति का कारण है; उस रस को ही अमृत कहा गया है। स्त्री प्रसंग की अभिलाषा काम जिसका आश्रय है, हृदय (बुद्धि) लोक है और मन ज्योति है; वह पुरुष अध्यात्म भी काममय है। उद्दीपक होने से स्त्री ही उस काममय पुरुष का देवता है। शुक्लादिरूप ही जिसके आश्रय हैं, चक्षु लोक है और मन ज्योति है; वह पुरुष आदित्य में रहता है, जो सभी रूपों का विशिष्ट कार्य है। उसका देवता सत्य यानी चक्षुः है क्योंकि अध्यात्म चक्षु से ही अधिदैव आदित्य की निष्पत्ति होती है। आकाश ही जिसका आश्रय है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है; वह पुरुष श्रोत्र में रहता है और प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से वहाँ रहने के कारण प्रातिश्रुत्क कहा जाता है। उसका देवता है दिशाएँ, क्योंकि दिशाओं से ही वह प्रातिश्रुत्क पुरुष निष्पन्न होता है। रात्रि का अन्धेरा रूप तम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है; अध्यात्मपक्ष में तम अज्ञानमय पुरुष ही है अर्थात् अज्ञान में प्रतिबिम्बत चैतन्य अथवा अज्ञानोपाधिक चैतन्य ही पुरुष है। जिसकी प्रवृत्ति ईश्वर प्रेरणा के अधीन होने से मृत्युपदवाच्य ईश्वर ही उस पुरुष का देवता है। प्रकाशक विशिष्टरूप ही जिसका आयतन है, चक्षु लोक है और मन ज्योति है; उस तमरूपायतन देव का विशेष आयतन प्रतिबिम्ब के आधारभूत दर्पणादि हैं एवं देवता उसका प्राण है, क्योंकि प्राण द्वारा घर्षण करने पर ही आदर्शादि प्रतिबिम्ब ग्रहण के योग्य होते हैं। अतएव प्रतिबिम्ब पुरुष की निष्पत्ति का कारण प्राण को कहा है। वापी, कूपादि में स्थित सभी साधारण जल ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है; उस पुरुष का देवता वरुण है। सूर्य किरणों द्वारा पृथिवी पर गिरा हुआ जल ही वरुण शब्द से कहा गया है, जो वापी कूपादि में स्थित पेयजल की उत्पत्ति का कारण है। वीर्य ही जिसका आयतन है, उस रेत आयतन पुरुष का विशेष आयतन पुत्ररूप है। हृदय लोक और मन ज्योति है; उस पुत्रमय पुरुष का देवता प्रजापति (पिता) है, क्योंकि पिता से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है।

शाकल्य ने कहा कि तुम जो सभी ब्राह्मणों का आक्षेपपूर्वक तिरस्कार कर रहे हो और अब भयभीत होकर कहते हो कि इन ब्राह्मणों ने तुम्हें अङ्गारे पकड़ने के लिये चिमटा बना रखा है। पर तुम सत्य बोलो — वस्तुतः तुम ब्रह्मज्ञानी हो क्या? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया — अधिष्ठातृदेव एवं प्रतिष्ठा के सहित दिशाओं को मैं जानता हूँ। याज्ञवल्क्य के इस प्रतिज्ञा का तात्पर्य यह है कि दिशाओं में पाँच प्रकार से विभक्त अपने हृदयौपाधिक आत्मा को दिगात्मस्वरूप समझकर उसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप जानकर

मैं दिक्स्वरूप में स्थित हूँ। तदनुसार पूर्वादिशा में मैं आदित्यरूप हूँ, वह आदित्य अध्यात्मचक्षु से निष्पन्न होने के कारण चक्षु में प्रतिष्ठित है क्योंकि अपने कारण में कार्य प्रतिष्ठित होता ही है। चक्षु रूपों में प्रतिष्ठित है, क्योंकि चक्षु रूपात्मक है और वह रूप से, रूपग्रहण के लिये ही प्रयुक्त होता है। वह रूप हृदय (मन और बुद्धि) में प्रतिष्ठित है, क्योंकि सभी लोक हृदय से ही रूप को जानते हैं, हृदय ही रूपाकार रूप में परिणत होता है एवं वासनात्मक रूपों का स्मरण भी हृदय से होता है। अतः रूप हृदय में ही प्रतिष्ठित है। वैसे ही दक्षिण दिशा में मैं यमदेवता वाला हूँ। वह अपने कारण यज्ञ में प्रतिष्ठित है। ऋत्विजों द्वारा निष्पादित यज्ञ को यजमान दक्षिणा से खरीद लेता है। इसीलिये यज्ञ को दक्षिणा में प्रतिष्ठित कहा गया है। ऐसे यज्ञ द्वारा यजमान यम के सहित दक्षिण दिशा को जीत लेता है। दक्षिणा श्रद्धा में प्रतिष्ठित है क्योंकि श्रद्धा के बिना कोई दक्षिणा नहीं देता, अपितु श्रद्धा उत्पन्न होने पर ही दक्षिणा देने में पुरुष प्रवृत्त होता है। यह श्रद्धा हृदय में प्रतिष्ठित है क्योंकि श्रद्धा हृदय की ही एक वृत्ति है और वृत्ति सदा अपने कारण वृत्तिमान् में प्रतिष्ठित रहती ही है। अतः हृदय में श्रद्धा को प्रतिष्ठित कहना युक्तियुक्त है। इसी प्रकार पश्चिम दिशा में मैं वरुण देवता वाला हूँ। जल का कार्य होने से वरुण जल में प्रतिष्ठित है। वह जल वीर्य में प्रतिष्ठित है। **"रेतसो ह्यापःसृष्टाः"** इस श्रुति के अनुसार जल वीर्य का कार्य है। वीर्य हृदय में प्रतिष्ठित है। इसीलिये पिता के अनुरूप पुत्र को लोग कहते हैं कि यह मानो अपने पिता के हृदय से निकला है। अतः हृदय में रेत को प्रतिष्ठित कहना ठीक ही है। वैसे ही उत्तर दिशा में मैं सोम देवता वाला हूँ। वह सोमलता दीक्षा में प्रतिष्ठित है क्योंकि दीक्षित यजमान ही सोमलता को खरीदता है। और ऐसे सोम से यजन कर यजमान सोम सम्बन्धिनी उत्तरदिशा को प्राप्त होता है। दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है क्योंकि दीक्षित पुरुष से सत्य बोलने के लिये कहते हैं। अतः सत्य का कार्य दीक्षा नष्ट न हो जाय, इस भय से दीक्षित पुरुष सदा सत्य ही बोलता है। वह सत्य हृदय में प्रतिष्ठित है क्योंकि हृदय से ही सत्य को जानता है। याज्ञवल्क्य के उक्त सभी उत्तर को सुनकर शाकल्य ने स्वीकार किया कि हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा कि ध्रुवदिशा में मैं अग्नि देवता वाला हूँ। मेरु के चारों ओर रहने वालों की दृष्टि में ऊर्ध्व दिशा का कभी भी व्यभिचार नहीं होता। इसीलिए यह ऊर्ध्वा कही गई है। ऊर्ध्व दिशा में प्रकाश की बहुलता है और प्रकाश ही अग्नि है। वह अग्नि वाक् में प्रतिष्ठित है और वाक् हृदय में प्रतिष्ठित है। ऐसा कहते समय समस्त दिशाओं में फैले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य सम्पूर्ण दिशाओं को आत्मभाव से प्राप्त था। नाम, रूप और कर्म के स्वरूपभूत उस याज्ञवल्क्य की देवता और प्रतिष्ठा के सहित सभी दिशाएँ आत्मभूत थीं। इनमें रूप पूर्व दिशा के सहित याज्ञवल्क्य का हृदय स्वरूप हो गया था। एवं केवल कर्म, पुत्रोत्पादन रूपकर्म और ज्ञानसहित कर्म अपने फल तथा अधिष्ठातृ देवों के सहित दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं के साथ उस याज्ञवल्क्य का हृदय ही हो गये थे। इसी प्रकार ध्रुवा के सहित सम्पूर्ण नाम भी वाक् द्वारा उसके हृदय को प्राप्त हो चुके थे। उक्त रीति से सब नाम और रूप हृदय ही तो हैं। ऐसे सर्वात्मक हृदय के विषय में (हृदय किसमें प्रतिष्ठित है, ऐसा शाकल्य के पूछने पर) याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को प्रेतनाम से सम्बोधित कर कहा कि इस शरीर से हृदय रूप आत्मा अन्यत्र हो जाय, तो इस शरीर को या तो कुत्ते खा जाएँ या पक्षी चोंच मार-मार कर नोच डालें। अतः मुझ शरीर में हृदय प्रतिष्ठित है और शरीर नाम, रूप तथा कर्ममय होने के कारण हृदय में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार कार्य और कारणरूप हृदय (आत्मा) एवं देह परस्पर एक दूसरे में प्रतिष्ठित है। यह दोनों

देह और आत्मा प्राणवृत्ति में प्रतिष्ठित है। प्राणवृत्ति अपान में प्रतिष्ठित है, अन्यथा अपानवृत्ति द्वारा रोके बिना यह प्राण बाहर निकल जाता। वैसे ही मध्यवर्ती व्यानवृत्ति द्वारा रोके बिना यह अपानवृत्ति नीचे की ओर चली जाती और प्राणवृत्ति ऊपर की ओर ही चली जाती। अतः अपानवृत्ति व्यान में प्रतिष्ठित है। व्यान उदान में प्रतिष्ठित है। यदि पूर्वोक्त तीनों वृत्तियाँ कीलस्थानीय उदानवृत्ति में बँधी नहीं होती तो ये सभी ओर चली जातीं। समान में केवल उदान नहीं, अपितु सभी प्राणादि प्रतिष्ठित हैं; उक्त प्रसङ्ग से यही दिखलाया है कि शरीर, हृदय और वायु ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं। तथा विज्ञानमय के लिए प्रयुक्त होकर संघात रूप से नियमपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। अब इसके आगे यह बतलाना है कि यह सब जिसके द्वारा नियत है और जिसमें आकाशादि सम्पूर्ण जगत् ओत-प्रोत एवं प्रतिष्ठित है; उसी निरुपाधिक साक्षादपरोक्ष ब्रह्म का निर्देश अग्रिम प्रसङ्ग से करना है। मधुकाण्ड में **''नेति नेति''** वाक्य से जिसका निर्देश किया गया है, वही यह आत्मा सम्पूर्ण कार्य धर्म से अतीत होने के कारण अगृह्य है। अतः गृहीत नहीं होता। एवं मूर्त्त और संघात से भिन्न होने के कारण अशीर्य है। अतः नष्ट नहीं होता। अमूर्त्त होने से असङ्ग है। इसलिए कहीं भी संसक्त नहीं होता और न व्यथित एवं हिंसित ही होता है। शीघ्रता में श्रुति ने क्रम को छोड़कर औपनिषद पुरुष का स्वरूपतः निर्देश किया। अब पुनः आख्यायिका का ही अनुसरण करती है — पृथिव्यादि आठ आयतन, अग्न्यादि आठ आलोक, शारीरादि आठ पुरुष और अमृतादि आठ देव बतलाये गये हैं। जो उन पुरुषों को निश्चयपूर्वक जानकर पुनः प्राची आदि दिग् द्वारा उन्हें अपने हृदयरूप आत्मा में उपसंहार कर औपाधिक धर्मों का अतिक्रमण किये हुए है; उसी औपनिषद पुरुष को तुझ विद्याभिमानी से मैं पूछता हूँ। यदि तुम उसकी विस्पष्ट व्याख्या नहीं करोगे तो तुम्हारा शिर गिर जायेगा, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। किन्तु शाकल्य उसे जानता नहीं था; अतः उसका शिर गिर गया। लुटेरों ने उसकी हड्डियों को कुछ और ही समझकर उसके शिष्यों के पास से छीन लिया। ब्रह्मज्ञानी के अनादर से ऐसा दुष्परिणाम होता है। इस प्रकार यह आख्यान आचार प्रदर्शन और विद्यास्तुति के लिये है। पहले निषेधमुख से ब्रह्म का निर्देश किया था; अब पुनः विधिमुख से ब्रह्म निर्देश के लिये आख्यान का अनुसरण करती हुई श्रुति कहती है। अब्रह्मज्ञ ब्राह्मणों को जीतकर गोधन ग्रहण को उचित मानते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा — हे पूज्य ब्राह्मणों! आपमें जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे पूछे या सभी मुझ से पूछें, अथवा आपमें से जो चाहे, उससे मैं पूछता हूँ, या सभी से मैं पूछता हूँ। इस प्रकार कहने पर भी प्रत्युत्तर देने का साहस उन ब्राह्मणों में नहीं हुआ। तब वृक्ष के दृष्टान्त से जगत् कारण के विषय में याज्ञवल्क्य ने पूछा, किन्तु जगत् के मूल का ज्ञान उन ब्राह्मणों को नहीं था। अतः ब्राह्मण हार गए और ब्रह्मिष्ठ होने से याज्ञवल्क्य गायों को ले गए। इस प्रकार आख्यान समाप्त हो गया।

याज्ञवल्क्य ने जिस जगत् के कारण के विषय में पूछा था, उसे श्रुति स्वयं ही कहती है — वह विज्ञान स्वरूप है, वही आनन्द है। वही जगत् कारण विषय विज्ञान के समान दुःख से अनुविद्ध नहीं है किन्तु विज्ञान और आनन्द इन दोनों विशेषणों से युक्त ब्रह्म क्या है। वह धन का दाता और यजमान के कर्मफलदाता होने से परम गति है। इतना ही नहीं, प्रत्युत ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मवेत्ता का भी परायण है।

पूर्व ब्राह्मणोक्त निषेध और विधिवाक्य द्वारा निर्दिष्ट विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म का ही याज्ञवल्क्यकाण्ड द्वितीयाध्याय प्रथम याज्ञवल्क्य ब्राह्मण में वागादि देवता के द्वारा बोध कराया गया है। इस प्रथम याज्ञवल्क्य

ब्राह्मण में राजा जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद है। जनक ने विभिन्न आचार्यों से वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, मन और हृदय को ही ब्रह्मरूप से सुन रखा था। जिन्हें राजा जनक से सुनकर याज्ञवल्क्य ने प्रत्येक के आयतन (गोलक) और प्रतिष्ठा (आश्रय) को पूछा। किन्तु उन आचार्यों से उक्त विषय में जनक ने कुछ सुना नहीं था। अतः वे बतला न सके। तब याज्ञवल्क्य ने उन सभी के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाकर भिन्न-भिन्न प्रकार से उनकी उपासना का विधान बतलाया। उनमें प्रत्येक उपासना का फल बतलाते समय यही कहा कि इनके उपासकों को उपास्यदेव कभी नहीं त्यागता है। उस उपासक का अनुसरण सभी प्राणी करते हैं और वह उपासक देव होकर देवों को प्राप्त करता है। जनक ने प्रत्येक उपासना के फल सुन उसीको परम पुरुषार्थ मानकर याज्ञवल्क्य को एक-एक हजार गौएँ भेंट करना चाहा, किन्तु याज्ञवल्क्य ने उसे यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मेरे पिता का यह सिद्धान्त रहा है कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं लेना। अतः अपने पिता के सिद्धान्त के विरुद्ध मैं इस दक्षिणा को स्वीकार नहीं कर सकता।

इस घटना से राजा जनक में दानीपने, विद्वानपने और बहुश्रुत होने का अहङ्कार चूर-चूर हो गया। वे राजसिंहासन से उठ याज्ञवल्क्य के समीप जाकर नमस्कार करते हुए उपदेश के लिये प्रार्थना करते हैं। तब याज्ञवल्क्य ने ज्ञानित्वादि का अभिमान त्याग कर शिष्यभाव से शरणापन्न राजा जनक को विद्या का अधिकारी समझकर उन्हें विराट् का उपदेश किया और फिर उस सर्वात्मा का प्रत्यगात्मा में उपसंहार करके परब्रह्म का भी उपदेश किया। जिससे जनक ने अपने में कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए अपना सम्पूर्ण राज्य-वैभवादि गुरुदेव के चरणों में समर्पण कर दिया। इस प्रकार द्वितीय कूर्च ब्राह्मण के साथ ही यह प्रकरण समाप्त हो जाता है।

मुनिकाण्ड के द्वितीयाध्याय तृतीय ज्योतिर्नामा ब्राह्मण में आत्मा के स्वयंज्योतिष्ट्व होने का प्रतिपादन किया गया है। इस बार जनक के पास जाते समय याज्ञवल्क्य ने सोचा कि मैं कुछ भी नहीं बोलूँगा। किन्तु बात विपरीत हो गयी क्योंकि अग्निहोत्रसंवाद प्रसङ्ग में किसी समय प्रसन्न हो ऋषि ने राजा को स्वेच्छापूर्वक प्रश्न करने के लिए वरदान दे रखा था। अतः प्रश्न करने के सामान्य नियम का पालन न कर जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि यह पुरुष किस ज्योति वाला है। याज्ञवल्क्य ने क्रमशः आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाक् और अन्त में आत्मज्योति से बैठना, अन्यत्र जाना, सब काम करना एवं नियत स्थान पर लौट आने की बात कही। वह आत्मा प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर विज्ञानमय है। वह जाग्रत् में बुद्धि के साथ तादात्म्य हुआ सब काम करता है और स्वप्न में देहरूप मृत्यु के रूपों को पार कर जाता है। वह आत्मस्वरूप के अज्ञान से जनन-मरणादि देहधर्म को अपने में मानता है। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में क्रमशः और क्रम के बिना भी जाता आता रहता है। स्वप्न में रथादि के न रहने पर भी जाग्रत् की वासना से स्वयंप्रकाश आत्मा सब कुछ बना लेता है। यह स्वप्न द्वारा देह को निश्चेष्ट करके भी स्वयं सोता नहीं है और देह को जीवित पहिचान के लिए प्राण को छोड़ जाता है; अन्यथा निद्राकाल में कहीं मृत्यु का भ्रम न हो जाये। आश्चर्य यह है कि स्वप्न में आत्मा के विलास को सभी देखते हैं; पर आत्मा को नहीं देखते। आत्मा की असङ्गता बेहद है। यह एक अवस्था की वस्तु को दूसरी अवस्था में नहीं ले जाता, किन्तु अकेला ही चल जाता है। अतः जाग्रदादि सभी अवस्थाओं से इसकी असङ्गता

सिद्ध होती है। यह जाग्रत् और स्वप्न में श्रान्त हुआ बाज पक्षी के समान ही अपने विश्राम स्थान सुषुप्ति में चला जाता है। सम्पूर्ण द्वैत के विस्मरणपूर्वक स्वरूप की स्मृति बनी रहे तो इसी को जीवनमुक्ति कहते हैं। सोया हुआ पुरुष जाग्रत् और स्वप्न के दृश्य पदार्थ के सङ्ग और उससे होने वाले शोक को पार कर जाता है। वह नित्य, विज्ञानघन आत्मा सुषुप्ति में किसी वस्तु को नहीं देखता। इससे उसके दर्शनादि शक्ति के नाश की आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह शक्ति उसकी नित्य है। जाग्रत् स्वप्न में अविद्या की विक्षेपशक्ति से द्वैत के खड़े हो जाने पर दूसरे को दूसरा देखता सुनता है, इत्यादि। जैसे जल विशुद्ध और एक है, वैसे ही सुषुप्ति में अद्वैत आत्मा द्रष्टा एक है। सुषुप्ति और समाधि में द्वैत का विस्मरण समान है। दोनों में भेद इतना ही है कि समाधि में स्वरूप का बोध बना रहता है और निद्रा में वह बोध नहीं रहता है। यही पुरुष की परम गति, परम सम्पत्ति, परम लोक और परम आनन्द है। इसी आनन्द की कला को लेकर तीनों लोक जीवित हैं। मनुष्य के सर्वाधिक आनन्द से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त विषय-संसर्गजन्य जितना भी आनन्द है; इन सभी से अधिक आनन्द निष्पाप, कामनाशून्य, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् को प्राप्त होता रहता है। आत्मानन्द की अभिव्यक्ति जितनी विषय से होती है, उससे कई गुणा अधिक आत्मानन्दाभिव्यक्ति निष्कामता तथा स्वरूपनिष्ठा से होती है। यह बात यहाँ पर तथा तैत्तिरीयोपनिषद् में भी बतलायी गयी है। इन सभी बातों को सुनकर राजा जनक ने कहा कि इसके बदले श्रीमान् को मैं एक सहस्र गायें देता हूँ। अतः इसके आगे भी आप बन्धन से मुक्त करने के लिये उपदेश करें। इस बात को सुनकर महर्षि भयभीत हो गये। भयभीत होने के दो कारण हो सकते हैं। एक यह कि हमारे सम्पूर्ण उपदेश को केवल एक हजार गौदक्षिणा से राजा माप रहा है। दूसरा यह कि कामप्रश्न के बहाने मेरा सारा विज्ञान ले लेना चाहता है। हम मोक्ष उपयोगी सभी उपदेश कर चुके हैं। अब कुछ शेष रहा नहीं। यदि कुछ आगे हम कहेंगे; तो सम्भवतः उसे भी यह बुद्धिमान् राजा इसी मापदण्ड से मापेगा, जो उचित नहीं। फिर कामप्रश्नरूप वरदान दे देने के कारण मैं तो बंधा हुआ हूँ। निःसन्देह आत्मा का प्रवक्ता और श्रोता दोनों ही आश्चर्य हैं। इस आत्मविद्या को किसी भी मायिक पदार्थ से मापा नहीं जा सकता। इसके आगे मरणासन्न की दशा, ऊर्ध्वश्वास का कारण, देहान्तर में जाने का प्रकार एवं प्राणों का देहान्तर में जाने की विधि का निपुणतम निरूपण किया गया है।

मुनिकाण्ड द्वितीयाध्याय के चतुर्थ शारीर ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण उपदेशों का सार सग्रंह करके बतलाया है। मरणासन्न दशा में यह जीव सभी इन्द्रियों के तेज को लेकर हृदयदेश में अभिव्यक्त विज्ञानवाला होता है। हृदय के अग्रभाग के प्रद्योतनपूर्वक भावी देह ग्रहण के लिए चक्षुरादि द्वार से निकल जाता है। उस जीव के साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वानुभवजन्य संस्कार जाते हैं। जैसे तृणजलोका आगे के पैरों से दूसरे तृण का आश्रय लेने पर ही पहले वाले तृण को छोड़ता है, वैसे ही यह जीवात्मा वर्तमान शरीर को अचेतन बना दूसरे शरीर का आश्रय लेकर ही पूर्व देह को छोड़ता है। यह विज्ञानमय आत्मा संकल्पानुसार शरीर का निर्माण कर लेता है और संकल्प पूर्व के कर्म एवं वासना के अनुरूप होता है। पुनः संकल्पानुसार कर्म कर तदनुरूप फल को प्राप्त करता है। यह तो कामनामय अज्ञानी जीव की गति बतलायी। इससे भिन्न आप्तकाम ज्ञानी पुरुष के प्राण देहान्तर ग्रहण के लिये शरीर से निकलते ही नहीं हैं। प्रत्युत ब्रह्मज्ञानी जीवितावस्था में ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। प्रारब्धक्षीण होते ही निर्विशेष ब्रह्मभाव

को प्राप्त कर जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष सर्प की केचुली की भाँति देह को छोड़कर सुखपूर्वक स्वरूप में स्थित रहता है। इस उपदेश के बदले एक सहस्र गौ भेंट करने की प्रतिज्ञा पुनः जनक ने की। औपनिषद पुरुष की उपेक्षा कर केवल कर्म में या कर्मबोधक वेदादि शास्त्रों के अभ्यास में लगे रहने वाले व्यक्ति अन्धकूप में गिरते हैं। ऐसे अज्ञानी पुरुष घोर अज्ञानान्धकार से आच्छादित उन लोकों को प्राप्त करते हैं, जहाँ पर सुख नाममात्र भी नहीं है। इसके विपरीत आत्मा को अपरोक्ष अनुभव करने वाला आप्तकाम एवं कृतकृत्य पुरुष शरीर के ताप से भी सन्तप्त नहीं होता। वह तो जीवित दशा में ही मुक्त हो जाता है। इस प्रकार आत्मा को जानकर जीवन्मुक्ति का लाभ इस मनुष्य देह में ही प्राप्त करना चाहिये। अन्यथा इस क्षति की पूर्ति कहीं भी सम्भव नहीं है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल के प्रशासक, प्रकाशमय आत्मतत्त्व की शास्त्र एवं आचार्य की कृपा से जानने वाला ब्रह्मवेत्ता भय के कारण द्वैत के मिट जाने से शरीर सुरक्षा की भी चिन्ता नहीं करता। सर्वाधार, अद्वय ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान से अमरत्व मिलता है और भेददर्शी बार-बार जन्मता-मरता रहता है। आत्मबोधक वेदान्त शास्त्र का ही अनुशीलन करें; अनात्मबोधक शास्त्र का अभ्यास केवल वाणी का व्यायाममात्र भूसे कूटने के समान व्यर्थ प्रयास है। ऐसे आत्मज्ञान तथा आत्मनिष्ठा प्राप्त करने के लिये एषणात्रय का संन्यास करना भी आवश्यक है। उस आत्मजिज्ञासु की दृढ़ धारणा होती है कि जब हमें आत्मलोक का ही सम्पादन करना है; तो फिर हम प्रजा से क्या करेंगे। **''नेति नेति''** निषेधमुख से वेदान्त वाक्य द्वार आत्मा को जानकर ज्ञानी पुरुष धर्माधर्म को भी दग्ध कर डालता है, जो अज्ञानदशा में सबको सन्तप्त करते रहते हैं। इस प्रकार ओजस्वी भाषा द्वारा याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को उपदेश किया। उन्होंने इस उपदेश से कृतकृत्य हो ऋषि के चरणों में आत्मसमर्पण कर डाला। आत्मा महान्, अजन्मा, अजर, अमर, अभय, ब्रह्मस्वरूप है। ऐसे आत्मा को जानने वाला पुरुष अभय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार शारीर ब्राह्मण का सार बतलाया गया।

इसके आगे मुनिकाण्ड की रीति से मैत्रेयी ब्राह्मण में आत्मतत्त्व का उपदेश मैत्रेयी को महर्षि याज्ञवल्क्य ने किया और जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्दानुभव करने के लिये संन्यास ग्रहण कर लिया। इस अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में मुनिकाण्ड के आचार्य वंश का वर्णन है इस प्रकार याज्ञवल्क्यकाण्ड के दोनों अध्यायों का संक्षिप्त वर्णन हो जाता है।

बृहदारण्यक के अन्तिम सप्तम एवं अष्टम दो अध्याय खिलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें अनेक प्रकार की उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। खिलकाण्ड के प्रथमाध्याय में १५ ब्राह्मण हैं। बृहदारण्यक के इससे भिन्न किसी अध्याय में इतने ब्राह्मण नहीं हैं। प्रथम ब्राह्मण में वायु के समान ही असङ्ग और व्यापक चिदाकाश की उपासना ओङ्काररूप से करनी चाहिये, ऐसा बतलाया गया है।

प्राजापत्यनामक द्वितीय ब्राह्मण में एक रोचक आख्यान है। प्रजापति के पुत्र देव, मानव और दानव एक बार दीर्घकाल तक उनके पास ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किये। तप से शुद्धान्तःकरण उन तीनों को क्रमशः एक ही ''द'' अक्षर का उपदेश प्रजापति ने किया। अपने अधिकार और योग्यता के अनुरूप देवों ने इन्द्रियदमन, मनुष्यों ने दान और दानवों ने दया अर्थ उस दकार का समझा। जिसे ब्रह्मा ने यथार्थ बतलाया। तत्पश्चात् क्रमशः हृदयब्रह्म, सत्यब्रह्म, सत्यब्रह्मसंस्थान रूप आदित्यमण्डलस्थ और दक्षिणनेत्रस्थपुरुष, मनोमय

पुरुष, विद्युद्ब्रह्म, वाग्धेनु की उपासना, वैश्वनराग्निघोष, उपासनागति, रोगादिजन्यताप में तपदृष्टि, अन्न और प्राण के अन्योऽन्याश्रयत्व, उक्थदृष्टि से प्राणोपासना, गायत्री के प्रत्येक पाद की उपासना और फल का वर्णन, अन्त में कर्म और उपासना के समुच्चय अनुष्ठान वालों के लिये मार्ग याचना बतलाकर प्रथमाध्याय समाप्त हो जाता है।

खिलकाण्ड के अन्तिम अध्याय में प्राणसंवाद से मुख्यप्राण की श्रेष्ठता बतलायी गयी है। प्राणोपासक के लिये भोजन से पूर्व और पश्चात् स्मृतिविहित आचमन में अनग्नता चिन्तन करने को बतलाया। जिसका विस्तृत विचार ब्रह्मसूत्र में किया गया है।

इससे पूर्व ज्ञानकर्मसमुच्चय अनुष्ठान करने वाले साधक शोभनमार्ग से ले जाने के लिये परमेश्वर से प्रार्थना कर रहे थे। उससे पूर्व केवलकर्म से पितृलोक और उपासना एवं उपासनासहित कर्म से देवलोक की प्राप्ति बतलायी गयी है। पर उपर्युक्त दोनों स्थानों में मार्ग विशेष का निर्धारण नहीं किया गया था। इसी बात को स्पष्ट बतलाने के लिये कर्मविभागनामक द्वितीय ब्राह्मण कहा गया है। विद्याभिमानी श्वेतकेतु पाञ्चालों की सभा में आया। वहाँ पर प्रवाहण जैवलि ने श्वेतकेतु से पाँच प्रश्न पूछे — उनमें से एक का उत्तर भी वह न दे सका। इससे खिन्न मन हो श्वेतकेतु अपने पिता के पास आकर उलाहना देने लगा। श्वेतकेतु के पिता गोतम ने भी इस विषय में अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की। गोतम उक्त प्रश्नों के उत्तर जानने के लिये प्रवाहण के पास आया। ब्राह्मण होने के कारण गोतम वाणीमात्र से क्षत्रिय प्रवाहण के प्रति शिष्यभाव से उपसन्न हुआ क्योंकि आपत्तिकाल में ब्राह्मण को क्षत्रिय स्वीकार के शिष्यत्व करने के लिये शास्त्र ने आज्ञा दे रखी है। उसके बाद राजा ने द्युलोक, पर्जन्य, भूलोक, पुरुष एवं स्त्रीरूप आध्यात्मिक पाँच अग्नियों का उपदेश कर प्रसिद्ध षष्ठाग्नि का भी उपदेश किया। जो अनुवाद मात्र है, उपास्य नहीं है। अतएव छान्दोग्य की पञ्चाग्निविद्या और बृहदारण्यक की पञ्चाग्निविद्या को समान मानकर परस्पर गुणोपसंहार का आदेश ब्रह्मसूत्र में सूत्रकार एवं भाष्यकार ने दिया है। प्रतीकोपासकों में से केवल पञ्चाग्निविद्या का उपासक ही अर्चिरादि देवयान से ब्रह्मलोक जाता है, दूसरे प्रतीकोपासक नहीं जाते, इससे विपरीत केवल कर्मी, मरने पर, धूमादि पितृयान से चन्द्रलोक जाते हैं। जहाँ से कर्मफल भोगने के बाद पुनरावृत्ति होती है। इन दोनों से भिन्न प्राणी के लिए कीट, पंतगादि योनियों में बार-बार जन्म मरण ही गति है।

इस अध्याय के तृतीय श्रीमन्थब्राह्मण में कर्म के साधन मानुषवित्त धनोपार्जन का वह उपाय बतलाया है, जिससे प्रत्यवाय न लगे क्योंकि उपासना स्वतन्त्र है; किन्तु कर्म दैव तथा मानुषवित्त के अधीन है। महत्त्वप्राप्ति के लिये श्रीमन्थ कर्मानुष्ठान की आवश्यकता है क्योंकि महत्त्व प्राप्त होने पर धन स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसीलिये श्रीमन्थ ब्राह्मण कहा गया है।

जिस प्राणोपासक धनार्थी पुरुष ने श्रीमन्थ ब्राह्मण में विहित कर्म का अनुष्ठान कर लिया है; श्रीमन्थ कर्मानुष्ठान कर पुत्रमन्थ कर्मानुष्ठान के लिये उसे पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्योंकि सत्सन्तान ही अपने और पिता के लोकप्राप्ति का साधन हो सकती है। अतः सत्सन्तान प्राप्ति के लिये यह श्रीमन्थ ब्राह्मण कहा गया है। शास्त्रविधि से उत्पन्न किया हुआ पुत्र अपने पिता पितामहादि से भी आगे

बढ़ जाता है। तथा "तू लक्ष्मी, कीर्ति और ब्रह्मचर्य द्वारा उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया" ऐसी स्तुति उसकी लोग करते हैं। विशिष्ट पुत्र से पिता भी स्तुति का पात्र बन जाता है।

पंचम ब्राह्मण में खिलकाण्ड की आचार्य परम्परा का वर्णन है। यहाँ परस्त्री विशेषण से पुत्र का विशेषण देकर आचार्य वंश का वर्णन इसलिये किया गया है क्योंकि स्त्री प्रधानता से ही गुणवान् पुत्र की उत्पत्ति पुत्रमन्थ प्रसंग में बतलायी गयी है। ये यजुः श्रुतियाँ आचार्य वंश बतलाने वाली ब्राह्मण से मिली नहीं हैं। जिससे इनमें कोई पौरुषेयत्व की आशङ्का कर सके। ये तो सर्वथा शुद्ध हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बृहदारण्य-कोपनिषद् का सार संग्रह किया गया।

अनादि अपौरुषेय वेद के शिरोभाग होने से उपनिषद् भी अनादि और अपौरुषेय है। इसकी परम्परा भी ऐसी ही है। पर वेदान्त का जैसा केवलाद्वैत सिद्धान्त भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य जी की वाणी में निखर कर आया, ऐसा इनसे पूर्व देखने में नहीं आता। इसीलिये पीछे में केवलाद्वैत सिद्धान्त को शाङ्कर सिद्धान्त की संज्ञा दी गयी है। इनसे पूर्व या तो केवल कर्मकाण्ड में मानव समाज निरत थे या उससे ऊबकर अवैदिक सिद्धान्त और तन्त्र साधनों में निरत होते जा रहे थे। उस समय साक्षात् भगवान् शङ्कर ने शङ्कराचार्य रूप से इस धरा पर अवतरित हो सनातन वैदिक सिद्धान्त को प्रशस्त किया। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता को प्रस्थानत्रयी कहते हैं। इन तीनों से समर्थित सिद्धान्त ही विद्वत्समाज में मान्य होता है। अतः आद्य शङ्कराचार्य जी ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा, साथ ही अनेक प्रकरण ग्रन्थों का निर्माण कर अद्वैत ज्ञान को सुलभ कर दिया। ईशादि जिन दशोपनिषद् पर भगवान् आद्य शङ्कराचार्य जी का भाष्य है; उनमें बृहदारण्यकोपनिषद् का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसमें भाष्यकार ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है। केवल कर्म या ज्ञानकर्मसमुच्चय के अनुष्ठान से शाश्वत शान्ति रूप मोक्ष नहीं मिलता। अपितु मोक्ष का ऐकान्तिक साधन ब्रह्मात्मैक्यबोध है। यह बोध असति प्रतिबन्ध के साधन चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षु को अद्वैत ब्रह्मविद्या के आचार्य के मुख से महावाक्य सुनते ही हो जाता है। इसीलिये इस आत्मा को औपनिषद पुरुष कहा गया है। जिसका साक्षात्कार केवल उपनिषद् महावाक्य से होता हो, उसे औपनिषद पुरुष कहते हैं। असम्भावना विपरीत भावना प्रतिबन्धक के रहने पर श्रोत्र के साथ महावाक्य का सम्बन्ध होने पर भी अद्वैतज्ञान नहीं होता। अतः उक्त प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए अद्वैत ब्रह्मविद्या के श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य मुख से गुरु उपसत्तिपूर्वक वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप विचार करना चाहिये, ऐसा श्रुति का आदेश है। उपनिषद् के मौलिक सिद्धान्त को अवगत करने के लिए मूलमन्त्र, शाङ्करभाष्य और उसकी आनन्दगिरि टीका को आचार्य परम्परा से पढ़ना आवश्यक है। वह परम्परा आज भी कैलासश्रम में दृष्टिगोचर होती है। इत्योंशम्।

भगवत्पादीय :
महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी

गंगा दशहरा
श्री कैलास आश्रम
उत्तरकाशी (उ० प्र०)

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

बृहदारण्यकोपनिषत्

खिलकाण्डम्

***

अथ पञ्चमोऽध्यायः

***

खंनाम प्रथमं ब्राह्मणम्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते॥ पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ॐ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम्॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य खंनाम प्रथमं ब्राह्मणम्॥१॥

मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

आकाश ब्रह्म ओंकार रूप है (यहाँ खं शब्द से भौतिक आकाश नहीं समझना चाहिए)। अतः आकाश परमात्मस्वरूप है। जिसमें वायु रहता है; वह ही खं है, ऐसा कौरव्यायणी पुत्र ने कहा है (अर्थात् खं शब्द का मुख्य अर्थ भूताकाश ही होता है। ब्रह्माकाश तो गौण अर्थ है।) यह ओंकार, वेद, यानी नाम है, इसी से वेदितव्य वस्तु ब्रह्म का प्रकाश होता है। ऐसा ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो वस्तु वेदितव्य है; उसका इसी ओंकार से बोध होता है॥१॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम्॥

अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितं भाष्यम्

पूर्णमद इत्यादि खिलकाण्डमारभ्यते। अध्यायचतुष्टयेन यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरो निरुपाधिकोऽशनायाद्यतीतो "नेति नेतीति" व्यपदेश्यो निर्धारितो, यद्विज्ञानं केवलममृतत्वसाधनमधुना तस्यैवाऽऽत्मनः सोपाधिकस्य शब्दार्थादिव्यवहारविषयापन्नस्य पुरस्तादनुक्तान्युपासनानि कर्मभिरविरुद्धानि प्रकृष्टाभ्युदयसाधनानि क्रममुक्तिभाञ्जि च यानि, तानि वक्तव्यानीति परः संदर्भः। सर्वोपासनशेषत्वेनोंकारो दमं दानं दयामित्येतानि च विधित्सितानि। **पूर्णमदः**

पूर्णं न कुतश्चिद्व्यावृत्तं व्यापीत्येतत्। निष्ठा च कर्तरि द्रष्टव्या। **अद** इति परोक्षाभिधायि सर्वनाम तत्परं ब्रह्मेत्यर्थः। तत्संपूर्णमाकाशवद्व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकं च। तदे**वेदं** सोपाधिकं नामरूपस्थं व्यवहारापन्नं **पूर्णं** स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव नोपाधिपरिच्छिन्नेन विशेषात्मना। तदिदं विशेषापन्नं कार्यात्मकं ब्रह्म **पूर्णात्**कारणात्मन **उदच्यत** उद्रिच्यत उद्गच्छतीत्येतत्। यद्यपि कार्यात्मनोद्रिच्यते, तथाऽपि यत्स्वरूपं पूर्णत्वं परमात्मभावं तन्न जहाति **पूर्ण**मेवोद्रिच्यते। **पूर्णस्य** कार्यात्मनो ब्रह्मणः **पूर्णं** पूर्णत्व**मादाय** गृहीत्वाऽऽत्मस्वरूपैकरसत्वमापाद्य विद्ययाऽविद्याकृतं भूतमात्रोपाधिसंसर्गजमन्यत्वावभासं तिरस्कृत्य **पूर्णमेवा**नन्तरमबाह्यं प्रज्ञानघनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्म**ावशिष्यते**।

यदुक्तं ''ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेद्'''' अहं ब्रह्मास्मि''इति''तस्मात्तत्सर्वमभवत्'' इत्येषोऽस्य मन्त्रस्यार्थः। तत्र ब्रह्मेत्यस्यार्थः पूर्णमद इति। इदं पूर्णमिति ''ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि''त्यस्यार्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्— ''यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह'' इति। अतोऽदःशब्दवाच्यं पूर्णं ब्रह्म तदेवेदं पूर्णं कार्यस्थं नामरूपोपाधिसंयुक्तमविद्ययोद्रिक्तम्। तस्मादेव परमार्थस्वरूपादन्यदिव प्रत्यवभासमानम्। तद्यदात्मानमेव परं पूर्णं ब्रह्म विदित्वाऽहमदः पूर्णं ब्रह्मास्मीत्येवं पूर्णमादाय तिरस्कृत्यापूर्णस्वरूपतामविद्याकृतां नामरूपोपाधिसंपर्कजामेतया ब्रह्मविद्यया, पूर्णमेव केवलमवशिष्यते। तथा चोक्तम् ''तस्मात्तत्सर्वमभवत्'' इति।

यः सर्वोपनिषदर्थो ब्रह्म स एषोऽनेन मन्त्रेणानूद्यत उत्तरसंबन्धार्थम्। ब्रह्मविद्यासाधनत्वेन हि वक्ष्यमाणानि साधनान्योंकारदमदानदयाख्यानि विधित्सितानि खिलप्रकरणसंबन्धात्सर्वोपासनाङ्गभूतानि च।

अत्रैके वर्णयन्ति—पूर्णात्कारणात्पूर्णं कार्यमुद्रिच्यते। उद्रिक्तं कार्यं वर्तमानकालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण। पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्णतामादायाऽऽत्मनि धित्वा पूर्णमेवावशिष्यते कारणरूपम्। एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्यकारणयोः पूर्णतैव। सा चैकैव पूर्णता कार्यकारणयोर्भेदेन व्यपदिश्यते। एवं च द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्म। यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेनबुद्बुदाद्यात्मक एव। यथा च जलं सत्यं तदुद्भवाश्च तरङ्गफेनबुद्-

बुदादयः समुद्रात्मभूता एवाऽऽविर्भावतिरोभावधर्मिणः परमार्थसत्याः। एवं सर्वमिदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरङ्गादिस्थानीयं, समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म। एवं च किल द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं, यदा पुनर्द्वैतं द्वैतमिवाविद्याकृतं मृगतृष्णिकावदनृतद्वैतमेव परमार्थतस्तदा किल कर्मकाण्डं विषयाभावादप्रमाणं भवति। तथा च विरोध एव स्यात्। वेदैकदेशभूतोपनिषत्प्रमाणं परमार्थाद्वैतवस्तु-प्रतिपादकत्वादप्रमाणं कर्मकाण्डमसद्द्वैतविषयत्वात्। तद्विरोधपरिजिहीर्षया श्रुत्यैतदुक्तं कार्यकारणयोः सत्यत्वं समुद्रवत्पूर्णमद इत्यादिनेति।

तदसत्। विशिष्टविषयापवादविकल्पयोरसंभवात्। न हीयं सुविवक्षिता कल्पना। कस्मात्? यथा क्रियाविषय उत्सर्गप्राप्तस्यैकदेशेऽपवादः क्रियते। "यथा-ऽहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य" इति हिंसा सर्वभूतविषयोत्सर्गेण निवारिता तीर्थे विशिष्टविषये ज्योतिष्टोमादावनुज्ञायते। न च तथा वस्तुविषय इहाद्वैतं ब्रह्मोत्सर्गेण प्रतिपाद्य पुनस्तदेकदेशेऽपवदितुं शक्यते। ब्रह्मणोऽद्वैतत्वादेवैकदेशानुपपत्तेः। तथा विकल्पानुपपत्तेश्च। यथा "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इति ग्रहणाग्रहणयोः पुरुषाधीनत्वाद्विकल्पो भवति। न त्विह तथा वस्तुविषये द्वैतं वा स्यादद्वैतं वेति विकल्पः संभवत्यपुरुषतन्त्रत्वादात्मवस्तुनः। विरोधाच्च द्वैताद्वैतत्व-योरेकस्य। तस्मान्न सुविवक्षितेयं कल्पना।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च। सैन्धवघनवत्प्रज्ञानैकरसघनं निरन्तरं पूर्वापरबाह्या-भ्यन्तरभेदविवर्जितं सबाह्याभ्यन्तरमजं "नेति नेत्यस्थूलमनणवह्रस्वमजरमभयममृतम्" इत्येवमाद्याः श्रुतयो निश्चितार्थाः संशयविपर्यासाशङ्कारहिताः सर्वाः समुद्रे प्रक्षिप्ताः स्युरकिंचित्करत्वात्। तथा न्यायविरोधोऽपि सावयवस्यानेकात्मकस्य क्रियावतो नित्यत्वानुपपत्तेः। नित्यत्वं चाऽऽत्मनः स्मृत्यादिदर्शनादनुमीयते। तद्विरोधश्च प्राप्नो-त्यनित्यत्वे। भवत्कल्पनानर्थक्यं च। स्फुटमेव चास्मिन्पक्षे कर्मकाण्डानर्थक्यम्। अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गात्।

ननु ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वे समुद्रादिदृष्टान्ता विद्यन्ते। कथमुच्यते भवतैकस्य

द्वैताद्वैतत्वं विरुद्धमिति। न। अन्यविषयत्वात्। नित्यनिरवयववस्तुविषयं हि विरुद्धत्वमवोचाम द्वैताद्वैतत्वस्य, न कार्यविषये सावयवे। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादनुपपन्नेयं कल्पना। अस्याः कल्पनाया वरमुपनिषत्परित्याग एव।

अध्येयत्वाच्च न शास्त्रार्थेयं कल्पना। न हि जननमरणाद्यनर्थशतसहस्रभेदसमाकुलं समुद्रवनादिवत्सावयवमनेकरसं ब्रह्म ध्येयत्वेन विज्ञेयत्वेन वा श्रुत्योपदिश्यते। प्रज्ञानघनतां चोपदिशति "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" इति च। अनेकधादर्शनापवादाच्च "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति। यच्च श्रुत्या निन्दितं तन्न कर्तव्यम्। यच्च न क्रियते न स शास्त्रार्थः। ब्रह्मणोऽनेकरसत्वमनेकधात्वं च द्वैतरूपं निन्दितत्वान्न द्रष्टव्यम्। अतो न शास्त्रार्थः। यत्त्वेकरसत्वं ब्रह्मणस्तद्द्रष्टव्यत्वात्प्रशस्तं, प्रशस्तत्वाच्च शास्त्रार्थो भवितुमर्हति।

यत्तूक्तं वेदैकदेशस्याप्रामाण्यं कर्मविषये द्वैताभावादद्वैते च प्रामाण्यमिति। तन्न। यथाप्राप्तोपदेशार्थत्वात्। न हि द्वैतमद्वैतं वा वस्तु जातमात्रमेव पुरुषं ज्ञापयित्वा पश्चात्कर्म वा ब्रह्मविद्यां वोपदिशति शास्त्रम्। न चोपदेशार्हं द्वैतं, जातमात्रप्राणिबुद्धिगम्यत्वात्।

न च द्वैतस्यानृतत्वबुद्धिः प्रथममेव कस्यचित्स्यात्। येन द्वैतस्य सत्यत्वमुपदिश्य पश्चादात्मनः प्रामाण्यं प्रतिपादयेच्छास्त्रम्। नापि पाषण्डिभिरपि प्रस्थापिताः शास्त्रस्य प्रामाण्यं न गृह्णीयुः।

तस्माद्यथाप्राप्तमेव द्वैतमविद्याकृतं स्वाभाविकमुपादाय स्वाभाविक्यैवाविद्यया युक्ताय रागद्वेषादिदोषवते यथाभिमतपुरुषार्थसाधनं कर्मोपदिशत्यग्रे, पश्चात्प्रसिद्धक्रियाकारकफलस्वरूपदोषदर्शनवते तद्विपरीतौदासीन्यस्वरूपावस्थानफलार्थिने तदुपायभूतामात्मैकत्वदर्शनात्मिकां ब्रह्मविद्यामुपदिशति। अथैवं सति तदौदासीन्यस्वरूपावस्थाने फले प्राप्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यं प्रत्यर्थित्वं निवर्तते। तदभावाच्छास्त्रस्यापि शास्त्रत्वं तं प्रति निवर्तत एव।

तथा प्रतिपुरुषं परिसमाप्तं शास्त्रमिति न शास्त्रविरोधगन्धोऽप्यस्ति। अद्वैत-

ज्ञानावसानत्वाच्छास्त्रशिष्यशासनादिद्वैतभेदस्य। अन्यतमावस्थाने हि विरोधः स्यादवस्थितस्येतरेतरापेक्षत्वात्तु शास्त्रशिष्यशासनानां नान्यतमोऽप्यवतिष्ठते। सर्वसमाप्तौ तु कस्य विरोध आशङ्क्येताद्वैते केवले शिवे सिद्धे। नाप्यविरोधताऽत एव।

अथाप्यभ्युपगम्य ब्रूमः—द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि शास्त्रविरोधस्य तुल्यत्वात्। यदाऽपि समुद्रादिवद्द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्माभ्युपगच्छामो नान्यद्वस्त्वन्तरं, तदाऽपि भवदुक्ताच्छास्त्रविरोधान्न मुच्यामहे। कथम्? एकं हि परं बह्म द्वैताद्वैतात्मकं तच्छोकमोहाद्यतीतत्वादुपदेशं न काङ्क्षति। न चोपदेष्टाऽन्यो ब्रह्मणो, द्वैताद्वैतरूपस्य ब्रह्मण एकस्यैवाभ्युपगमात्।

अथ द्वैतविषयस्यानेकत्वादन्योन्योपदेशो न ब्रह्मविषय उपदेश इति चेत्। तदा द्वैताद्वैतात्मकमेकमेव ब्रह्म नान्यदस्तीति विरुध्यते। यस्मिन्द्वैतविषयेऽन्योन्योपदेशः सोऽन्यो द्वैतं चान्यदेवेति समुद्रदृष्टान्तो विरुद्धः। न च समुद्रोदकैकत्ववद्विज्ञानैकत्वे ब्रह्मणोऽन्यत्रोपदेशग्रहणादिकल्पना संभवति। न हि हस्तादिद्वैताद्वैतात्मके देवदत्ते वाक्कर्णयोर्देवदत्तैकदेशभूतयोर्वागुपदेष्ट्री कर्णः केवल उपदेशस्य ग्रहीता, देवदत्तस्तु नोपदेष्टा नाप्युपदेशस्य ग्रहीतेति कल्पयितुं शक्यते। समुद्रैकोदकात्मत्ववदेकविज्ञानवत्त्वाद्देवदत्तस्य। तस्माच्छ्रुतिन्यायविरोधश्चाभिप्रेतार्थासिद्धिश्चैवंकल्पनायां स्यात्। तस्माद्यथाव्याख्यात एवास्माभिः पूर्णमद इत्यस्य मन्त्रस्यार्थः।

ॐ खं ब्रह्मेति मन्त्रः अयं चान्यत्राविनियुक्त इह ब्राह्मणेन ध्यानकर्मणि विनियुज्यते। अत्र च ब्रह्मेति विशेष्याभिधानं खमिति विशेषणम्। विशेषणविशेष्ययोश्च सामानाधिकरण्येन निर्देशो नीलोत्पलवत्खं ब्रह्मेति। ब्रह्मशब्दो बृहद्वस्तुमात्रास्पदोऽविशेषितोऽतो विशेष्यते खं ब्रह्मेति। यत्तत्**खं ब्रह्म** तदोंशब्दवाच्यमोंशब्दस्वरूपमेव वोभयथाऽपि सामानाधिकरण्यमविरुद्धम्।

इह च ब्रह्मोपासनसाधनत्वार्थमोंशब्दः प्रयुक्तः। तथा च श्रुत्यन्तरात् 'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्' 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत' 'ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं

पुरुषमभिध्यायीत' 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्यादेः। अन्यार्थासंभवाच्चोपदेशस्य। यथाऽन्यत्रोमिति शंसत्योमित्युद्गायतीत्येवमादौ स्वाध्यायारम्भापवर्गयोश्चोंकारप्रयोगो विनियोगादवगम्यते, न च तथाऽर्थान्तरमिहावगम्यते। तस्माद्ध्यानसाधनत्वेनैवेहोंकारशब्दस्योपदेशः।

यद्यपि ब्रह्मात्मादिशब्दा ब्रह्मणो वाचकास्तथाऽपि श्रुतिप्रामाण्याद्ब्रह्मणो नेदिष्ठमभिधानमोंकारः। अत एव ब्रह्मप्रतिपत्ताविदं परं साधनम्। तच्च द्विप्रकारेण प्रतीकत्वेनाभिधानत्वेन च। प्रतीकत्वेन‡, यथा विष्ण्वादिप्रतिमाऽभेदेनैवमोंकारो ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यः। तथा ह्योंकारालम्बनस्य ब्रह्म प्रसीदति।

''एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते''॥ इति श्रुतेः।

तत्र खमिति भौतिके खे प्रतीतिर्मा भूदित्याह—**खं पुराणं** चिरंतनं खं परमात्माकाशमित्यर्थः। यत्तत्परमात्माकाशं पुराणं खं तच्चक्षुराद्यविषयत्वान्निरालम्बनमशक्यं ग्रहीतुमिति श्रद्धाभक्तिभ्यां भावविशेषेण चोंकार आवेशयति। यथा विष्ण्वङ्गाङ्कितायां शिलादिप्रतिमायां विष्णुं लोक एवम्। **वायुरं खं** वायुरस्मिन्विद्यत इति **वायुरं खं** खमात्रं खमित्युच्यते न पुराणं खमित्येव**माह स्म।** कोऽसौ? **कौरव्यायणीपुत्रः**। वायुरे हि खे मुख्यः खशब्दव्यवहारस्तस्मान्मुख्ये संप्रत्ययो युक्त इति मन्यते। तत्र यदि पुराणं खं ब्रह्म निरुपाधिस्वरूपं यदि वा वायुरं खं सोपाधिकं ब्रह्म, सर्वथाऽप्योंकारः प्रतीकत्वेनैव प्रतिमावत्साधनत्वं प्रतिपद्यते। ''एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः'' इति श्रुत्यन्तरात्। केवलं खशब्दार्थे विप्रतिपत्तिः।

वेदोऽयमोंकारो वेद विजानात्यनेन यद्वेदितव्यम्। तस्माद्वेद ॐकारो वाचकोऽभिधानम्। तेनाभिधानेन यद्वेदितव्यं ब्रह्म प्रकाश्यमानमभिधीयमानं वेद, साधको विजानात्युपलभते। तस्मा**द्वेदोऽयमिति ब्राह्मणा विदुः**। तस्माद्ब्राह्मणानामभिधानत्वेन साधनत्वमभिप्रेतमोंकारस्य। अथवा वेदोऽयमित्याद्यर्थवादः। कथमोंकारो

देव, मानव, और दानव को एक ही "द" अक्षर से अभीष्ट उपदेश की प्राप्ति.

। अथ पञ्चमाध्यायस्य प्राजापत्यनाम द्वितीयं ब्राह्मणम्।

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥१॥

देवता, इन्द्रिय लोलुपता.

देव, नर और असुर; ये तीनों प्रजापति के पुत्र थे। उन्होंने पिता प्रजापति के पास शिष्यभाव से ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। ब्रह्मचर्यपूर्वक वास के बाद देवों ने प्रजापति से कहा-आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने उन देवों से 'द' यह अक्षर कहा और पूछा-क्या आप लोग समझ गये? इस पर देवताओं ने कहा-हाँ, हम लोग समझ गये। आपने 'इन्द्रिय दमन करो' ऐसा हमें उपदेश दिया है, (क्योंकि देवता स्वभाव से अजितेन्द्रिय होते हैं; अतः उन्हें इन्द्रिय दमन की आवश्यकता होती है) तब प्रजापति ने कहा— ठीक है, आप लोग समझ गये हो॥१॥

ब्रह्मणः प्रतीकत्वेन विहितः**? ॐ खं ब्रह्मे**ति सामानाधिकरण्यात्तस्य स्तुतिरिदानीं वेदत्वेन। सर्वो ह्ययं वेद ॐकार एव। एतत्प्रभव एतदात्मकः सर्व ऋग्यजुःसामादिभेदभिन्न एष ओंकारः ''तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि'' इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। इतश्चायं **वेद** ॐकारो **यद्वेदितव्यं** तत्सर्वं वेदितव्यमोंकारेणैव **वेदैनेना**तोऽयमोंकारो वेदः। इतरस्यापि वेदस्य वेदत्वमत एव। तस्माद्विशिष्टोऽयमोंकारः साधनत्वेन प्रतिपत्तव्य इति। अथवा वेदः सः। कोऽसौ? यं ब्राह्मणा विदुरोंकारम्। ब्राह्मणानां ह्यसौ प्रणवोद्गीथादिविकल्पैर्विज्ञेयः। तस्मिन्हि प्रयुज्यमाने साधनत्वेन सर्वो वेदः प्रयुक्तो भवतीति॥१॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य खंनाम प्रथमं ब्राह्मणम्॥१॥

अधुना दमादिसाधनत्रयविधानार्थोऽयमारम्भः— **त्रयास्त्रिसंख्याकाः प्राजा-**

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥२॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदे-

उसके बाद प्रजापति से मनुष्यों ने कहा— हमें आप उपदेश करें। प्रजापति ने उन्हें भी 'द' यह अक्षर ही बतलाया और पूछा— समझ गये? मनुष्यों ने कहा— हाँ, हम सब समझ गये। आपने हमें 'दान करो' ऐसा उपदेश किया है (क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही लोभी होता है) तब प्रजापति ने कहा— हाँ, ठीक है, आप लोग समझ गये॥२॥

फिर प्रजपति से दैत्यों ने कहा आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने 'द' यह अक्षर

पत्याः प्रजापतेरपत्यानि प्राजापत्यास्ते किं? **प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यं** शिष्यत्ववृत्तेर्ब्रह्मचर्यस्य प्राधान्याच्छिष्याः सन्तो ब्रह्मचर्य**मूषुः**उषितवन्त इत्यर्थः। के ते? विशेषतो देवा मनुष्या असुराश्च। ते चोषित्वा ब्रह्मचर्यं किमकुर्वन्नित्युच्यते— तेषां **देवा ऊचुः** पितरं प्रजापतिम्। किमिति। **ब्रवीतु** कथयतु **नोऽस्मभ्यं** यदनुशासनं **भवानिति। तेभ्य** एवमर्थिभ्यो **हैतदक्षरं** वर्णमात्र**मुवाच द इति।** उक्त्वा च तान्पप्रच्छ पिता, किं **व्यज्ञासिष्टा३ इति।** मयोपदेशार्थमभिहितस्याक्षरस्यार्थं विज्ञातवन्त आहोस्विन्नेति। देवा **ऊचुर्व्यज्ञासिष्मेति** विज्ञातवन्तो वयम्। यद्येवमुच्यतां किं मयोक्तमिति। देवा ऊचु**र्दाम्यत**दान्ता यूयं स्वभावतोऽतो दान्ता भवतेति **नोऽस्मानात्थ** कथयसि। इतर **आहोमिति** सम्यग्**व्यज्ञासिष्टेति**॥१॥

समानमन्यत्। स्वभावतो लुब्धा यूयमतो यथाशक्ति संविभजत **दत्तेति नोऽस्मानात्थ**। किमन्यद्ब्रूयान्नो हितमिति मनुष्याः॥२॥

तथाऽसुरा **दयध्वमिति**। क्रूरा यूयं हिंसादिपरा, अतो **दयध्वं** प्राणिषु

भक्त्या कल्पितं यद् द्वैतं, अद्वैतादपि सुन्दरम्॥

वाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति॥३॥

असुराः क्रूर

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य प्राजापत्यनाम द्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

ही कहा और पूछा क्या आप लोग समझ गये? दैत्यों ने कहा— हाँ, हम सब समझ गये हैं। आपने हमें 'दया करो' ऐसा कहा। तब प्रजापति ने कहा— हाँ ठीक हैं, आप लोग समझ गये। उस प्रजापति के अनुशासन का मेघगर्जनरूपी दैवी वाणी 'द द द' इस प्रकार आज भी अनुवाद कर रही है अर्थात् दमन करो, दान करो और दया करो। अतः दमन, दान और दया इन तीनों को अपने अधिकारानुरूप सभी ने सीख लिया॥३॥

॥इति द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

दयां कुरुतेति। **तदेतत्**प्रजापतेरनुशासनमद्याप्यनुवर्तत **एव**। यः पूर्वं प्रजापतिर्देवादीननुशशास सोऽद्याप्यनुशास्त्येव दैव्या स्तनयित्नुलक्षणया वाचा। कथमेषा श्रूयते **दैवी वाक्**? काऽसौ **स्तनयित्नुः**? **द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमित्येषां** वाक्यानामुपलक्षणाय त्रिर्दकार उच्चार्यतेऽनुकृतिः। न तु स्तनयित्नुशब्दस्त्रिरेव, संख्यानियमस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात्। यस्मादद्यापि प्रजापतिर्दाम्यत दत्त दयध्वमित्यनुशास्त्येव, तस्मात्कारणादे**तत्त्रयम्**। किं तत्त्रयं इत्युच्यते — **दमं दानं दयामिति शिक्षेद्**पादद्यात्प्रजापतेरनुशासनमस्माभिः कर्तव्यमित्येवं मतिं कुर्यात्। तथा च स्मृतिः—

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्"॥इति।

दाम्यत, दयध्वं, दत्त

अस्य हि विधेः शेषः पूर्वः। तथाऽपि देवादीनुद्दिश्य किमर्थं दकारत्रयमुच्चारितवान्प्रजापतिः पृथगनुशासनार्थिभ्यः। ते वा कथं विवेकेन प्रतिपन्नाः प्रजापतेर्मनोगतं समानेनैव दकारवर्णमात्रेणेति पराभिप्रायज्ञा विकल्पयन्ति।

अत्रैके आहुरदान्तत्वादानत्वादयालुत्वैरपराधित्वमात्मनो मन्यमानाः शङ्किता एव प्रजापतावूषुः किं नो वक्ष्यतीति। तेषां च दकारश्रवणमात्रादेवाऽऽत्माशङ्कावशेन तदर्थप्रतिपत्तिरभूत्। लोकेऽपि हि प्रसिद्धं पुत्राः शिष्याश्चानुशास्याः सन्तो दोषान्निवर्तयितव्या इति। अतो युक्तं प्रजापतेर्दकारमात्रोच्चारणम्। दमादित्रये च दकारान्वयादात्मनो दोषानुरूप्येण देवादीनां विवेकेन प्रतिपत्तुं चेति। फलं त्वेतदात्मदोषज्ञाने सति दोषान्निवर्तयितुं शक्यतेऽल्पेनाप्युपदेशेन, यथा देवादयो दकारमात्रेणेति।

नन्वेतत्त्रयाणां देवादीनामनुशासनं देवादिभिरप्येकैकमेवोपादेयमद्यत्वेऽपि न तु त्रयं मनुष्यैः शिक्षितव्यमिति। अत्रोच्यते—पूर्वैर्देवादिभिर्विशिष्टैरनुष्ठितमेतत्त्रयं, तस्मान्मनुष्यैरेव शिक्षितव्यमिति। तत्र दयालुत्वस्याननुष्ठेयत्वं स्यात्, कथमसुरैरप्रशस्तैरनुष्ठितत्वादिति चेत्। न, तुल्यत्वात्त्रयाणाम्। अतोऽन्योऽत्राभिप्रायः प्रजापतेः पुत्रा देवादयस्त्रयः, पुत्रेभ्यश्च हितमेव पित्रोपदेष्टव्यम्। प्रजापतिश्च हितज्ञो नान्यथोपदिशति। तस्मात्पुत्रानुशासनं प्रजापतेः परममेतद्धितम्। अतो मनुष्यैरेवैतत्त्रयं शिक्षितव्यमिति।

अथवा न देवा असुरा वाऽन्ये केचन विद्यन्ते मनुष्येभ्यः। मनुष्याणामेवादान्ता येऽन्यैरुत्तमैर्गुणैः संपन्नास्ते देवाः, लोभप्रधाना मनुष्यास्तथा हिंसापराः क्रूरा असुराः। त एव मनुष्या अदान्तत्वादिदोषत्रयमपेक्ष्य देवादिशब्दभाजो भवन्तीतरांश्च गुणान्सत्त्वरजस्तमांस्यपेक्ष्य। अतो मनुष्यैरेव शिक्षितव्यमेतत्त्रयमिति। तदपेक्षयैव प्रजापतिनोपदिष्टत्वात्। तथा हि मनुष्या अदान्ता लुब्धाः क्रूराश्च दृश्यन्ते। तथाच स्मृतिः— "कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्" इति॥३॥

इति बृहदारण्कोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य प्राजापत्यनाम द्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

हृदय ब्रह्म की उपासना

।अथ पञ्चमाध्यायस्य हृदयनाम तृतीयं ब्राह्मणम्।

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥१॥

इन्द्रिय — इन्द्रिय विषय

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य हृदयनाम तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

जो "हृदय" है, वह प्रजापति है। वह ब्रह्म है क्योंकि वह सब का आत्मा है। अतएव यह सर्व भी है। यह "हृदय" ऐसा तीन अक्षर नाम वाला है। "हृ" यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्व (इन्द्रियाँ) और अन्य शब्दादि विषय बलि समर्पण करते हैं। "द" यह एक अक्षर है, इस प्रकार जो उपासना करता है, उसे स्वजातीय और असंबद्ध पुरुष भी बलि समर्पण करते हैं। "यम्" यह एक अक्षर है। इसे जो जानता है; वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है (जब नाम के अक्षर की उपासना करने वाले को भी विशिष्ट फल मिलता है, तो "हृदय" ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होने वाले फल के विषय में कहना ही क्या है)॥१॥

॥ इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

दमादिसाधनत्रयं सर्वोपासनशेषं विहितम्। दान्तोऽलुब्धो दयालुः सन्सर्वोपासनेष्वधिक्रियते। तत्र निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो दर्शनमतिक्रान्तम्। अथाधुना सोपाधिकस्य तस्यैवाभ्युदयफलानि वक्तव्यानीत्येवमर्थोऽयमारम्भः—

एष प्रजापतिर्यद्धृदयं प्रजापतिरनुशास्तीत्यनन्तरमेवाभिहितम्। कः पुनरसावनुशास्ता प्रजापतिरिति। उच्यते— **एष प्रजापतिः**। कोऽसौ? **यद्धृदयं** हृदयमिति हृदयस्था बुद्धिरुच्यते। यस्मिञ्शाकल्यब्राह्मणान्ते नामरूपकर्मणामुपसंहार उक्तो दिग्विभागद्वारेण, तदेतत्सर्वभूतप्रतिष्ठं सर्वभूतात्मभूतं हृदयं प्रजापतिः प्रजानां

। अथ पञ्चमाध्यायस्य सत्यनाम चतुर्थं ब्राह्मणम्।

तद्वै तदेतदेव तदास, सत्यमेव स, यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद, सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकाञ्जित, इन्न्व-

वही यह हृदय ब्रह्म ही वह है, जोकि सत्य ही है। जो कोई भी इस महत्पूज्य प्रथम उत्पन्न हुए को 'यह सत्य ब्रह्म है' इस प्रकार से उपासना करता है; वह इन लोकों को जीत लेता है, वह उसके वश में हो जाता है और वह असत् स्वरूप हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्पूज्यनीय प्रथम उत्पन्न हुए को 'सत्य ब्रह्म' इस प्रकार से उपासना

स्रष्टा। **एतद्ब्रह्म** बृहत्त्वात्सर्वात्मत्वाच्च ब्रह्म। **एतत्सर्वम्**। उक्तं पंचमाध्याये हृदयस्य सर्वत्वम्। तत्सर्वं यस्मात्तस्मादुपास्यं हृदयं ब्रह्म। तत्र हृदयनामाक्षरविषयमेव तावदुपासनमुच्यते। **तदेतद्धृदयमिति** नाम **त्र्यक्षरं**, त्रीण्यक्षराण्यस्येति त्र्यक्षरम्। कानि पुनस्तानि त्रीण्यक्षराण्युच्यन्ते? **हृ इत्येकमक्षरम्**। अभिहरन्ति हरतेरा-हृतिकर्मणो हृ इत्येतद्रूपमिति यो वेद, यस्माद्धृदयाय ब्रह्मणे स्वाश्चेन्द्रियाण्यन्ये च विषयाः शब्दादयः स्वं स्वं कार्यमभिहरन्ति, हृदयं च भोक्त्रर्थमभिहरति। अतो हृदयनाम्नो हृ इत्येतदक्षरमिति यो वेदास्मै विदुषेऽभिहरन्ति स्वाश्च ज्ञातयोऽन्ये चासं-बद्धाः। बलिमिति वाक्यशेषः। विज्ञानानुरूप्येणैतत्फलम्।

तथा द इत्येतदप्येकमक्षरमेतदपि दानार्थस्य ददातेर्द इत्येतद्रूपं हृदयना-माक्षरत्वेन निबद्धम्। अत्रापि— हृदयाय ब्रह्मणे स्वाश्च करणान्यन्ये च विषयाः स्वं स्वं वीर्यं ददति, हृदयं च भोक्त्रे ददाति स्वं वीर्यमतो दकार इत्येवं यो **वेदास्मै ददति स्वाश्चान्ये च**। तथा यमित्येतदप्येकमक्षरम्। इणो गत्यर्थस्य यमित्येतद्रूपमस्मिन्नाम्नि निबद्धमिति **यो वेद स स्वर्गं लोकमेति**। एवं नामा-क्षरादपीदृशं विशिष्टं फलं प्राप्नोति, किमु वक्तव्यं हृदयस्वरूपोपासनादिति हृदयस्तुतये नामाक्षरोपन्यासः॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य हृदयनाम तृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

तस्यैव हृदयाख्यस्य ब्रह्मणः सत्यमित्युपासनं विधित्सन्नाह—**तत्तदिति** हृदयं

सावसद्य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यꣳह्येव ब्रह्म ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य सत्यनाम चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

करता है, उसे अवश्य पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है। (अतः उपासना के अनुरूप फल मिलना उचित ही है)॥१॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

ब्रह्म परामृष्टम्। **वा** इति स्मरणार्थम्। तद्यद्धृदयं ब्रह्म स्मर्यते इत्येकस्तच्छब्दः। तदेतदुच्यते प्रकारान्तरेणेति द्वितीय**स्तच्छ**ब्दः। किं पुनस्तत्प्रकारान्तरम्? **एतदेव तदि**त्येतच्छब्देन संबध्यते तृतीयस्तच्छब्दः। **एतदिति** वक्ष्यमाणं बुद्धौ संनिधीकृत्याऽऽह। **आस** बभूव। किं पुनरेतदेवाऽऽस? यदुक्तं हृदयं ब्रह्मेति **तदिति** तृतीयस्तच्छब्दो विनियुक्तः। किं तदिति विशेषतो निर्दिशति **सत्यमेव**। सच्च त्यच्च मूर्तं चामूर्तं च सत्यं ब्रह्म, पञ्चभूतात्मकमाधिदैविकं तत्त्वं हिरण्यगर्भात्मकमित्येतत्। **स यः** कश्चित्सत्यात्मान**मेतं महन्**महत्त्वा**द्यक्षं** पूज्यं **प्रथमजं** प्रथमजातं सर्वस्मात्संसारिण एतदेवाग्रे जातं ब्रह्मातः **प्रथमजं, वेद** विजानाति **सत्यं ब्रह्मेति**। तस्येदं फलमुच्यते—यथा सत्येन ब्रह्मणेमे लोका आत्मसात्कृता जिताः, एवं सत्यात्मानं ब्रह्म महद्यक्षं प्रथमजं वेद, स **जयतीमाँल्लोकान्**। किंच **जितो** वशीकृतः, **इन्न्वित्थं** यथा ब्रह्मणा**ऽसौ** शत्रुरिति वाक्यशेषः। **असच्चासद्भवेदसौ** शत्रुर्जितो भवेदित्यर्थः। कस्यैतत्फलमिति पुनर्निगमयति—**य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति**। अतो विद्यानुरूपं फलं युक्तम्। **सत्यं ह्येव** यस्माद्**ब्रह्म** ॥१॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य सत्यनाम चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

(सत्य ब्रह्म तथा सत्य नाम के अक्षरों की उपासना)

।अथ पञ्चमाध्यायस्य सत्यब्रह्मसंस्थाननाम पञ्चमं ब्राह्मणम्।

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं

यह नामरूपात्मक जगत् पहले जल ही था, उसी ने सर्वप्रथम सत्य की रचना की। अतः सत्य ब्रह्म ने विराट् को और विराट् ने देवताओं को उत्पन्न किया। वे देवगण भी सत्य की ही उपासना करते हैं। वह यह सत्य तीन अक्षर वाला है। 'स' यह एक अक्षर है। ईकारानुबन्धसहित 'ती' यह एक अक्षर वाला है और 'यम्' यह भी एक अक्षर वाला है। इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य रूप है क्योंकि उनकी मृत्यु का अभाव है और बीच में तकार अनृत है, फिर भी वह यह अनृत तकार दोनों ओर सत्य से

सत्यस्य ब्रह्मणः स्तुत्यर्थमिदमाह। महद्यक्षं प्रथमजमित्युक्तं, तत्कथं प्रथमजत्वमिति। उच्यते—**आप एवेदमग्र आसुः। आप** इति कर्मसमवायिन्योऽग्निहोत्राद्याहुतयः। अग्निहोत्राद्याहुतेर्द्रवात्मकत्वादप्त्वम्। **ताश्चाऽऽपो**ऽग्निहोत्रादिकर्मापवर्गोत्तरकालं केनचिददृष्टेन सूक्ष्मेणाऽऽत्मना कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्य; इतरभूतसहिता एव न केवलाः। कर्मसमवायित्वात्तु प्राधान्यमपामिति। सर्वाण्येव भूतानि प्रागुत्पत्तेरव्याकृतावस्थानि कर्तृसहितानि निर्दिश्यन्त आप इति। ता आपो बीजभूता जगतोऽव्याकृतात्मनाऽवस्थितास्ता एवेदं सर्वं नामरूपविकृतं जगदग्र आसुर्नान्यत्किंचिद्विकारजातमासीत्। **ताः** पुनरापः **सत्यमसृजन्त**। तस्मात्**सत्यं ब्रह्म** प्रथमजम्। तदेतद्धिरण्यगर्भस्य सूत्रात्मनो जन्म यदव्याकृतस्य जगतो व्याकरणम्। तत्सत्यं ब्रह्म।कुतः ? महत्त्वात्। कथं महत्त्वमित्याह। यस्मात्सर्वस्य स्रष्टृ। कथम्? यत्सत्यं ब्रह्म तत्**प्रजापतिं** प्रजानां पतिं विराजं सूर्यादिकारणमसृजतेत्यनुषङ्गः। **प्रजापतिर्देवान्स** विराट्प्रजापतिर्देवानसृजत। यस्मात्सर्वमेवं क्रमेण सत्याद्ब्रह्मणो जातं, तस्मान्महत्सत्यं ब्रह्म। कथं पुनर्यक्षमिति। उच्यते — **त** एवं सृष्टा **देवाः** पितरमपि विराजमतीत्य **तदेव सत्यं** ब्रह्मो**पासते**।

अर्जुन का विभूति सम्बन्धी मोह १० मा अध्याय मे नष्ट हुआ.
" " कर्तव्य सम्बन्धी मोह १८ अध्याय के अन्त में नष्ट हुआ.

किन्तु आत्म सम्बन्धी मोह नष्ट नहीं हुआ :

मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति ॥ १ ॥

प्रमादोक्त

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य सत्यब्रह्मसंस्थाननाम

"अव्यक्तादीनि भूतानि" **पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥**

(आदित्य मण्डलस्थ और चाक्षुष पुरुष भी सत्य नाम वाला है)

। अथ पञ्चमाध्यायस्य सत्यसंस्थानविशेषनाम षष्ठं ब्राह्मणम् ।

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्ता-

व्याप्त है। इसलिये यह सत्य बहुल ही है। इस प्रकार जानने वाले को मृत्यु रूप अनृत नहीं सताता, अर्थात् ऐसे उपासक को कभी प्रमाद से कहा हुआ असत्य मारता नहीं॥१॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

वह जो सत्य है, वह यह आदित्य है। जो इस आदित्य मण्डल में पुरुष है और जो भी यह दाएँ नेत्र में पुरुष है; वे दोनों एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हैं। रश्मियों द्वारा

अत एतत्प्रथमजं महद्यक्षम्। तस्मात्सर्वात्मनोपास्यं तत्तस्यापि सत्यस्य ब्रह्मणो नाम **सत्यमिति तदेतत्त्र्यक्षरम्**। कानि तान्यक्षराणीत्यत आह—**स इत्येकमक्षरम्। तीत्येकमक्षरम्।** तीतीकारानुबन्धो निर्देशार्थः। **यमित्येकमक्षरम्**। तत्र तेषां **प्रथमोत्तमे अक्षरे** सकारयकारौ **सत्यम्**। मृत्युरूपाभावात्। **मध्यतो** मध्येऽ**नृतम्**। अनृतं हि मृत्युः। मृत्य्वनृतयोस्तकारसामान्यात्। **तदेतदनृतं** तकाराक्षरं मृत्युरूप**मुभयतः सत्येन** सकारयकारलक्षणेन **परिगृहीतं** व्याप्तमन्तर्भावितं सत्यरूपाभ्यामतोऽकिंचित्करं **तत्सत्यभूयमेव** सत्यबाहुल्यमेव **भवति**। एवं सत्यबाहुल्यं सर्वस्य मृत्योरनृतस्याकिंचित्करत्वं च यो विद्वांस्त**मेवं विद्वांसमनृतं** कदाचित्प्रमादोक्तं **न हिनस्ति** ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य सत्यब्रह्मसंस्थाननाम पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

अस्याधुना सत्यस्य ब्रह्मणः संस्थानविशेष उपासनमुच्यते—**तद्यत्**। किं

वेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः, प्राणैरयममुष्मिन्स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति, नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति॥१॥ प्रत्यागच्छन्ति

अनुग्रह करता हुआ यह आदित्य पुरुष चाक्षुष पुरुष में प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा उपकार करता हुआ उस आदित्य पुरुष में प्रतिष्ठित है। जिस समय यह आध्यात्मिक चाक्षुष पुरुष शरीर से उत्क्रमण करने लगता है; उस समय यह विज्ञानमय इस आदित्य मण्डल को चन्द्रमण्डल के समान रश्मिरहित शुद्ध ही दीखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास आती नहीं (इस प्रकार परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव के कारण ये दोनों एक सत्यात्मा के ही अंश हैं)॥१॥

तत्सत्यं ब्रह्म प्रथमजं कि**मसौ सः**। कोऽसा**वादित्यः** कः पुनरसावादित्यो, **य एष** य **एतस्मिन्ना**दित्य**मण्डले पुरुषो**ऽभिमानी सोऽसौ सत्यं ब्रह्म। **यश्चा-यमध्यात्मं** योऽयं **दक्षिणोऽक्षन्नक्षणि पुरुषः**। चशब्दात्स च सत्यं ब्रह्मेति संबन्धः। **तावेतावा**दित्याक्षिस्थौ पुरुषावेकस्य सत्यस्य ब्रह्मणः संस्थानविशेषौ यस्मात्तस्मा**दन्योन्यस्मि**न्नितरेतरस्मिन्नादित्यश्चाक्षुषे चाक्षुषश्चाऽऽदित्ये **प्रतिष्ठितौ**। अध्यात्माधिदैवतयोरन्योन्योपकार्योपकारकत्वात्। कथं प्रतिष्ठितावित्युच्यते— **रश्मिभिः** प्रकाशेनानुग्रहं कुर्व**न्नेष** आदित्यो**ऽस्मिं**श्चाक्षुषेऽध्यात्मे **प्रतिष्ठितः**। **अयं** च चाक्षुषः **प्राणै**रादित्यमनुगृह्ण**न्नमुष्मिन्ना**दित्येऽधिदैवे प्रतिष्ठितः। **सोऽ**स्मिञ्छरीरे विज्ञानमयो यो भोक्ता **यदा** यस्मिन्काल **उत्क्रमिष्यन्भवति**, तदाऽसौ आदित्यपुरुषो रश्मीनुपसंहृत्य केवलेनौदासीन्येन रूपेण व्यवतिष्ठते। तदाऽयं विज्ञानमयः **पश्यति शुद्धमेव** केवलं विरश्म्**येतन्मण्डलं** चन्द्रमण्डलमिव। तदेतदरिष्टदर्शनं प्रासङ्गिकं प्रदर्श्यते। कथं नाम पुरुषः करणीये यत्नवान्स्यादिति। **नैनं** चाक्षुषं पुरुषमुरीकृत्य तं प्रत्यनुग्रहा**यैते रश्मयः** स्वामिकर्तव्यवशात्पूर्वमागच्छन्तोऽपि पुनस्तत्कर्मक्षयमनुरुध्यमाना इव नोपयन्ति न

। अथ पञ्चमाध्यायस्याहंविशेषसत्यनाम सप्तमं ब्राह्मणम्।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥१॥

इस मण्डल में जो यह सत्यनामा पुरुष है, उसका 'भूः' यह शिर है क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजाएँ दो हैं और अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह चरण है क्योंकि पाद दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। 'अहः' यह उसका गोपनीय नाम है। जो ऐसा जानता है (जो अहर्नामा ब्रह्म की उपासना करता है) वह पापों को मारता है और उसे त्याग देता है॥१॥

प्रत्यागच्छन्त्येनम्। अतोऽवगम्यते परस्परोपकार्योपकारकभावात्सत्यस्यैवैकस्याऽऽत्मनोंऽशावेताविति॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य सत्यसंस्थानविशेषनाम षष्ठं ब्राह्मणम्॥६॥

तत्र योऽसौ कः? **य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः** सत्यनामा **तस्य** व्याहृतयोऽवयवाः। कथम्? **भूरिति** येयं व्याहृतिः सा तस्य **शिरः**, प्राथम्यात्। तत्र सामान्यं स्वयमेवाऽऽह श्रुतिः— **एक**मेकसंख्यायुक्तं **शिरस्तथैतदक्षरमेकं** भूरिति। **भुव इति बाहू** द्वित्वसामान्याद्**द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे**। तथा **स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे**। प्रतिष्ठे पादौ प्रतितिष्ठत्याभ्यामिति। **तस्यास्य** व्याहृत्यवयवस्य सत्यस्य ब्रह्मण **उपनिष**द्रहस्यमभिधानम्। येनाभिधानेनाभिधीयमानं तद्ब्रह्माभिमुखी भवति लोकवत्। काऽसावित्याह—**अहरिति**। **अहरिति** चैतद्रूपं हन्तेर्जहातेश्चेति यो वेद स **हन्ति जहाति च पाप्मानं य एवं वेद**॥१॥

(अहं नामक चाक्षुष पुरुष के व्याहृति रूप अवयव)

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥२॥

गोपनीय — अहम् - नेत्रस्थ - अध्यात्म नाम.

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य अहंविशेषसत्यनाम सप्तमं ब्राह्मणम्॥७॥

(अहं नामक) (मनोमय पुरुष की उपासना)

। अथ पञ्चमाध्यायस्य मनोनामाष्टमं ब्राह्मणम्।

मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः

योगिभिर्दृश्यते

जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसका 'भूः' यह शिर है क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजाएँ हैं क्योंकि दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा है क्योंकि पाद दो हैं और अक्षर भी दो हैं। 'अहं' यह उसका गूढ़ नाम है क्योंकि यह प्रत्यगात्मस्वरूप है। जो ऐसा जानता है, वह पाप को मारता है और त्याग देता है॥२॥

॥ इति सप्तमं ब्राह्मणम्॥

प्रकाश ही जिसका स्वरूप है, ऐसा भास्वर यह पुरुष मनोमय है। जैसे— धान या

एवं **योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर** इत्यादि सर्वं समानम्। **तस्योपनिषदहमिति**। प्रत्यगात्मभूतत्वात्। पूर्ववद्धन्तेर्जहातेश्चेति॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य अहंविशेषसत्यनामसप्तमं ब्राह्मणम्॥७॥

उपाधीनामनेकत्वादनेकविशेषणत्वाच्च तस्यैव प्रकृतस्य ब्रह्मणो मनउपाधिविशिष्टस्योपासनं विधित्सन्नाह—

सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य मनोनामाष्टमं ब्राह्मणम्॥८॥

। अथ पञ्चमाध्यायस्य विद्युन्नाम नवमं ब्राह्मणम्।

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य

जौ सूक्ष्म होता है, वैसे ही सूक्ष्म परिणाम वाला उस अन्तर्हृदय में वह पुरुष रहता है। वही यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है और जो कुछ भी यह जगत् है, सबका विशेष रूप से शासन करने वाला वही है (उसकी जो उपासना करता है; वह सबका शासक हो जाता है)॥१॥

॥ इत्यष्टमं ब्राह्मणम्॥

विद्युत् ब्रह्म है— ऐसा कहते हैं। अन्धकार का खण्डन या विनाश करने के कारण

मनोमयो मनःप्रायो मनस्युपलभ्यमानत्वात्। मनसा चोपलभ्यत इति **मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यो** भा एव सत्यं सद्भावः स्वरूपं यस्य सोऽयं भाःसत्यो भास्वर इत्येतत्। मनसः सर्वार्थावभासकत्वान्मनोमयत्वाच्चास्य भास्वरत्वम्। **तस्मिन्नन्तर्हृदये** हृदयस्यान्तस्तस्मिन्नित्येतत्। **यथा व्रीहिर्वा यवो वा** परिमाणत एवंपरिमाणस्तस्मिन्नन्तर्हृदये योगिभिर्दृश्यत इत्यर्थः। **स एष सर्वस्येशानः सर्वस्य** भेदजातस्येशानः स्वामी। स्वामित्वेऽपि सति कश्चिदमात्यादितन्त्रोऽयं तु न तथा किं तर्ह्य**धिपतिर**धिष्ठाय पालयिता। **सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच** यत्किंचित्सर्वं जगत्तत्सर्वं प्रशास्ति। एवं मनोमयस्योपासनात्तथारूपापत्तिरेव फलम्। "तं यथा यथोपासते तदेव भवतीति" ब्राह्मणम्॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्याष्टमं मनोब्राह्मणम्॥८॥

तथैवोपासनान्तरं सत्यस्य ब्रह्मणो विशिष्टफलमारभ्यते—**विद्युद्ब्रह्मे-**

एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥१ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
विद्युन्नाम नवमं ब्राह्मणम् ॥९ ॥

धेनु रूप से वाणी की उपासना

। अथ पञ्चमाध्यायस्य वाङ्धेनुनाम दशमं ब्राह्मणम्।

वाग् रूपी धेनु

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहा-
कारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ

विद्युत् है, ऐसे गुण वाले विद्युत् ब्रह्म की जो उपासना करता है; वह अपने प्रतिकूल सभी पापों का नाश कर देता है (क्योंकि यह फल उपास्य के अनुरूप ही है) अतः विद्युत् ही ब्रह्म है ॥१ ॥

वाग् (ऋग्, यजुः और सामवेद) रूप धेनु की उपासना करे। उस वाग्रूप धेनु के स्वाहाकार, वषट्कार, हन्त और स्वधाकार ये चार स्तन हैं। इनमें से स्वाहाकार और वषट्कार द्वारा देवताओं को हवि दी जाती है। 'हन्त' ऐसा कह कर मनुष्यों को अन्न देते

त्याहुः। विद्युतो ब्रह्मणो निर्वचनमुच्यते—**विदानाद**वखण्डनात्तमसो मेघान्धकारं विदार्य ह्यवभासतेऽतो **विद्युत्**। एवंगुणं **विद्युद्ब्रह्मेति** यो वेदासौ **विद्यत्य**वखण्डयति विनाशयति पाप्मन **एन**मात्मानं प्रति प्रतिकूलभूताः **पाप्मानो** ये तान्सर्वान्पाप्मनोऽवखण्डयतीत्यर्थः। **य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति** तस्यानुरूपं फलम्। **विद्युद्धि** यस्माद्**ब्रह्म** ॥१ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य विद्युन्नामनवमं ब्राह्मणम् ॥९ ॥

पुनरुपासनान्तरं तस्यैव ब्रह्मणो वाग्वै ब्रह्मेति वागिति शब्दस्त्रयी, तां **वाचं धेनुं** धेनुरिव धेनुर्यथा धेनुश्चतुर्भिः स्तनैः स्तन्यं पयः क्षरति वत्सायैवं वाग्धेनुर्वक्ष्यमाणैः स्तनैः पय इवान्नं क्षरति देवादिभ्यः। के पुनस्ते स्तनाः के वा ते येभ्यः क्षरति। तस्या एतस्या वाचो धेन्वा द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति वत्सस्थनीयाः। कौ तौ? **स्वाहाकारं च वषट्कारं च**। आभ्यां हि हविर्दीयते

देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥१ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य वागधेनुनाम दशमं ब्राह्मणम् ॥१० ॥

(वैश्वानराग्नि का घोष ग्रहण का चिह्न)

। अथ पञ्चमाध्यायस्य वैश्वानराग्निर्नामैकादशं ब्राह्मणम्।

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते

हैं और स्वधाकार के द्वारा पितृगणों को श्राद्ध के योग्य वस्तु देते हैं। (इन्हीं चारों स्तनों के द्वारा वाग् गौ के समान बछड़े स्थानीय देव गणादिकों को कामना की सिद्धि करती है)। उस धेनु का वृषभ प्राण है क्योंकि प्राण के द्वारा ही वाक् प्रसव करती है, मन उसका बछड़ा है (क्योंकि मन से ही आलोचना किये हुए विषय में वाणी की प्रवृत्ति होती है)।

॥ इति दशमं ब्राह्मणम् ॥

जो यह पुरुष के भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है। जिससे यह अन्न पकाया जाता है और भक्षण किया जाता है, उसी जठराग्नि का यह घोष हुआ करता है, जिसे पुरुष

देवेभ्यः। **हन्तकारं मनुष्याः**। हन्तेति मनुष्येभ्योऽन्नं प्रयच्छन्ति। **स्वधाकारं पितरः**। स्वधाकारेण हि पितृभ्यः स्वधां प्रयच्छन्ति। **तस्या** धेन्वा वाचः **प्राण ऋषभः।** प्राणेन हि वाक्प्रसूयते। **मनो वत्सः**। मनसा हि प्रस्राव्यते। मनसा ह्यालोचिते विषये वाक्प्रवर्तते। तस्मान्मनो वत्सस्थानीयम्। एवं वाग्धेनूपासकस्ताद्भाव्यमेव प्रतिपद्यते ॥१ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य वाङ्धेनुनामदशमं ब्राह्मणम् ॥१० ॥

अयमग्निर्वैश्वानरः पूर्ववदुपासनान्तरमयमग्निर्वैश्वानरः। कोऽयमग्निरित्याह—**योऽयमन्तः पुरुषे**। किं शरीरारम्भकः? नेत्युच्यते—**येना**ग्निना वैश्वानराख्ये**नेदमन्नं पच्यते**। किं तदन्नम्? **यदिदमद्यते** भुज्यतेऽन्नं प्रजा-

यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषꣳ शृणोति॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य वैश्वानराग्निर्नामैकादशं ब्राह्मणम्॥११॥

।अथ पञ्चमाध्यायस्य गतिनाम द्वादशं ब्राह्मणम्।

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स

अंगुलियों से दोनों कानों को बन्द करके सुनता है। जब यह जीव उत्क्रमण करने वाला होता है, उस समय इस घोष को नहीं सुनता है (अतः उस प्रजापति रूप वैश्वानराग्नि की उपासना करे)॥१॥

॥इत्येकादशं ब्राह्मणम्॥

जब यह पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है, तब वह वायु को प्राप्त करता है। आकाश में घनीभूत वह वायु उसके लिए छिद्रयुक्त हो जाता है और मार्ग दे देता

भिर्जाठरोऽग्निरित्यर्थः। तस्य साक्षादुपलक्षणार्थमिदमाह—**तस्याग्नेरन्नं पचतो जाठरस्यैष घोषो भवति**। कोऽसौ? **यं घोषमेतदिति** क्रियाविशेषणं **कर्णावपिधाया**ङ्गुलीभ्यामपिधानंकृत्वा **शृणोति** तं प्रजापतिमुपासीत वैश्वानरमग्निम्। अत्रापि ताद्भाव्यं फलम्। तत्र प्रासङ्गिकमिदमरिष्टलक्षणमुच्यते—**सो**ऽत्र शरीरे भोक्ता **यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति**॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्यैकादशं वैश्वानराग्निर्ब्राह्मणम्॥११॥

सर्वेषामस्मिन्प्रकरण उपासनानां गतिरियं फलं चोच्यते—**यदा वै पुरुषो** विद्वान**स्माल्लोकात्प्रैति** शरीरं परित्यजति, **स** तदा **वायुमागच्छ**त्यन्तरिक्षे तिर्यग्भूतो वायुः स्तिमितोऽभेद्यस्तिष्ठति। **स** वायु**स्तत्र** स्वात्मनि **तस्मै** संप्राप्ताय

ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्य-शोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥१ ॥

डंबर नामक वादित्र विशेषस्य छिद्रपरिमाणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य गतिनाम द्वादशं ब्राह्मणम् ॥१२ ॥

है। वह छेद रथ के पहिये के छेद के समान होता है। उस छेद के द्वारा वह उपासक ऊर्ध्व होकर जाता है, फिर वह सूर्य लोक में पहुँच जाता है। वहाँ पर सूर्य भी उसके लिये वैसा ही छिद्रयुक्त हो मार्ग दे देता है। वह छेद डंबर नामक बाजे के छेद के समान होता है। उसमें प्रविष्ट हो वह उपासक ऊपर की ओर जाता है और वह चन्द्रलोक में पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी छिद्र युक्त हो उसे मार्ग दे देता है। वह छिद्र दुँदुभि के छिद्र के समान होता है। उस छिद्र के द्वारा ही वह उपासक ऊपर की ओर चढ़ता है। वहाँ पर वह मानसिक दुःख से हिमवर्जित अर्थात् शारीरिक ताप से रहित प्रजापति लोक में पहुँच जाता है और उसमें अनन्त वर्षों तक अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक निवास करता है ॥१ ॥

॥ इति द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

विजिहीते स्वात्मावयवान्विगमयति च्छिद्रीकरोत्यात्मानमित्यर्थः। किं परिमाणं छिद्रमिति। उच्यते —**यथा रथचक्रस्य खं** छिद्रं प्रसिद्धपरिमाणम्। **तेन** च्छिद्रेण **स** विद्वानूर्ध्व **आक्रमत** ऊर्ध्वः सन्गच्छति **स आदित्यमागच्छति**। आदित्यो ब्रह्मलोकं जिगमिषोर्मार्गनिरोधं कृत्वा स्थितः, सोऽप्येवंविद उपासकाय द्वारं प्रयच्छति। **तस्मै स तत्र विजिहीते। यथा लम्बरस्य खं** वादित्रविशेषस्य च्छिद्रपरिमाणं **तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति। सोऽपि तस्मै तत्र विजिहीते। यथा दुन्दुभेः खं** प्रसिद्धं **तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकं** प्रजापतिलोक**मागच्छति**। किंविशिष्टम्? **अशोकं**

। अथ पञ्चमाध्यायस्य तपोनाम त्रयोदशं ब्राह्मणम्।

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳहैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳहैव लोकं जयति य एवं वेद॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
तपोनाम त्रयोदशं ब्राह्मणम्॥१३॥

ज्वरादि से ग्रस्त पुरुष को जो ताप होता है, यह निःसन्देह परम तप है (क्योंकि ताप और तप दोनों में समान क्लेश होता है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले तथा रोगादि की निन्दा न करने वाले पुरुष को) जो लोक प्राप्त होता है, वह परम लोक ही है, उसी लोक को वह जीतता है। मृत पुरुष को जो ऋत्विक् लोक अन्त्येष्टि कर्म के लिए ग्राम से बाहर वन में ले जाते हैं, निश्चय ही यह परम तप है (क्योंकि मृत पुरुष और तपस्वी दोनों को वन में जाना समान ही है)। जो मरणासन्नपुरुष ऐसा जानता है, वह परम लोक पर विजय कर लेता है। अन्त्येष्टि संस्कार के समय मृत पुरुष को जो सब ओर से अग्नि में रखते हैं, निःसन्देह यह उसका परम तप है। जो ऐसा जानता है, वह निश्चय ही परम लोक को जीत लेता है॥१॥

॥ इति त्रयोदशं ब्राह्मणम्॥

मानसेन दुःखेन विवर्जितमित्येतत्। **अहिमं** हिमवर्जितं शारीरदुःखवर्जितमित्यर्थः। तं प्राप्य **तस्मिन्वसति शाश्वतीर्नित्याः समाः** संवत्सरानित्यर्थः। ब्रह्मणो बहून्कल्पान्वसतीत्येतत्॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य गतिनामद्वादशं ब्राह्मणम्॥१२॥

एतद्वै परमं तपः। किं तत्? **यद्व्याहितो** व्याधितो ज्वरादिपरिगृहीतः सन्**यत्तप्यते** तदेतत्परमं तप इत्येवं चिन्तयेत्। दुःखसामान्यात्। तस्यैवं

(प्राण और अन्न रूप ब्रह्म की उपासना)

।अथ पञ्चमाध्यायस्यान्नप्राणनाम चतुर्दशं ब्राह्मणम्।

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माऽऽह प्रातृदः पितरं किꣳस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है और वह दुर्गन्ध को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही कुछ आचार्यों ने कहा है कि प्राण ब्रह्म है पर यह बात भी ठीक नहीं क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। अतः (इनमें से एक-एक का ब्रह्मत्व सम्भव न होने के कारण) ये दोनों देव एकरूपता को प्राप्त होकर परम भाव अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है, ऐसा निश्चय कर प्रातृद नाम वाले ऋषि ने अपने पिता से कहा था। इस प्रकार जानने वाले का मैं क्या शुभ करूँ या क्या अशुभ करूँ? (क्योंकि उस कृत-कृत्य हुए पुरुष को शुभाशुभ कर्म से कुछ लाभ और हानि नहीं होती)। उसके पिता ने हाथ

चिन्तयतो विदुषः कर्मक्षयहेतुस्तदेव तपो भवत्यनिन्दतोऽविषीदतः। स एव च तेन विज्ञानतपसा दग्धकिल्बिषः **परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद**। तथा मुमूर्षुरादावेव कल्पयति **किमेतद्वै परमं तपो यं प्रेतं** मां ग्रामा**दरण्यं हरन्ति** ऋत्विजोऽन्त्यकर्मणे तद्ग्रामादरण्यगमनसामान्यात्परमं मम तत्तपो भविष्यति। ग्रामादरण्यगमनं परमं तप इति हि प्रसिद्धम्। **परमं हैव लोकं य एवं वेद**। **तथैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति**। अग्नि-प्रवेशसामान्यात्। **परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद**॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य तपोनामत्रयोदशं ब्राह्मणम्॥१३॥

अन्नं ब्रह्मेति। तथैतदुपासनान्तरं विधित्सन्नाह—**अन्नं ब्रह्मा**न्नमद्यते यत्तद्**ब्रह्मेत्येक** आचार्या **आहुस्तन्न तथा** ग्रहीतव्यमन्नं ब्रह्मेति। अन्ये चाऽऽहुः

असाधु कुर्यामिति स ह स्माऽऽह पाणिना मा मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्यान्न-
प्राणनाम चतुर्दशं ब्राह्मणम्॥१४॥

से रोकते हुए कहा—हे प्रातृद! ऐसा न कहो, इन दोनों की एकता को प्राप्त कर किसने ब्रह्मभाव को प्राप्त किया है। इस प्रकार उक्त साधन का निषेध कर प्रातृद ऋषि से उसके पिता ने 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही समस्त भूतों का आश्रय होने से अन्न है क्योंकि 'वि' रूप अन्न में ही सभी प्राणी प्रविष्ट हैं। ''रम्'' यह प्राण है क्योंकि इस रम् में ही ये सभी भूत रमण करते हैं। इस प्रकार समस्त भूतों के आश्रयरूप अन्न को और समस्त भूतों के रमणरूप प्राण को जानता है, उसमें समस्त प्राणी प्रवेश करते हैं और सभी भूत रमण करते हैं (क्योंकि उपास्य के गुणानुरूप ही उपासक को फल प्राप्त होता है)॥१॥

॥ इति चतुर्दशं ब्राह्मणम्॥

प्राणो ब्रह्मेति तच्च तथा न ग्रहीतव्यम्। किमर्थं पुनरन्नं ब्रह्मेति न ग्राह्यम्? यस्मा-त्**पूयति** क्लिद्यते पूतिभावमापद्यत **ऋते प्राणात्**तत्कथं ब्रह्म भवितुमर्हति। ब्रह्म हि नाम तद्यदविनाशि। अस्तु तर्हि **प्राणो ब्रह्म**। नैवम्। यस्मा**च्छुष्यति वै प्राणः** शोषमुपैति **ऋतेऽन्नात्**। अत्ता हि प्राणः। अतोऽन्नेनाऽऽद्येन विना न शक्नोत्यात्मानं धारयितुम्। तस्माच्छुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्। अत एकैकस्य ब्रह्मता नोपपद्यते यस्मात्तस्मा**देते ह त्वेवा**न्नप्राणं**देवते एकधाभूयमे**कधाभावं **भूत्वा** गत्वा **परमतां** परमत्वं **गच्छतो** ब्रह्मत्वं प्राप्नुतः।

महाव्रत = सत्य परिपालन.
अनुव्रत = प्रातः कालोत्थानमादि (५ बजे)

उक्थ दृष्टि से प्राण की उपासना

। अथ पञ्चमाध्यायस्य उक्थादिदृष्टिर्नाम पञ्चदशं ब्राह्मणम्।

प्रधान **उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदꣳ सर्वमुत्थापय-**

''उक्थ'' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। इन्द्रियों में प्रधान होने से प्राण ही उक्थ है क्योंकि प्राण ही इन सबको उठाता है। प्राणहीन कोई भी उठ नहीं सकता। इस उपासक

तदेतदेवमध्यवस्य ह स्माऽऽह स्म **प्रातृदो** नाम **पितरमात्मनः किंस्विदिस्विदिति** वितर्के। यथा मया ब्रह्म परिकल्पित**मेवं विदुषे** किंस्वि**त्साधु कुर्यां** साधु शोभनं पूजां, कां त्वस्मै पूजां कुर्यामित्यभिप्रायः। **किमेवास्मै विदुषेऽसाधु कुर्यां** कृतकृत्योऽसावित्यभिप्रायः। अन्नप्राणौ सहभूतौ ब्रह्मेति विद्वान्नासावसाधुकरणेन खण्डितो भवति। नापि साधुकरणेन महीकृतः। तमेवंवादिनं **स पिता ह स्माऽऽह पाणिना** हस्तेन निवारयन्**मा प्रातृद** मैवं वोचः। **कस्त्वेनयो**रन्नप्राणयो**रेकधाभूयं भूत्वा परमतां** कस्तु **गच्छति** ? न कश्चिदपि विद्वाननेन ब्रह्मदर्शनेन परमतां गच्छति। तस्मान्नैवं वक्तुमर्हसि कृतकृत्योऽसाविति। यद्येवं ब्रवीतु भवान्कथं परमतां गच्छतीति। **तस्मा उ हैत**द्वक्ष्यमाणं वच **उवाच**। किं तत्? **वीति**। किं तद्वीति? उच्यते—**अन्नं वै वि। अन्ने हि** यस्मा**दिमानि सर्वाणि भूतानि विष्टा**न्याश्रितान्यतोऽन्नं वीत्युच्यते। किंच रमिति। **रमिति** चोक्तवान्पिता। किं पुनस्तद्रम्। **प्राणो वै रम्।** कुत इत्याह। **प्राणे हि** यस्माद्बलाश्रये सति **सर्वाणि भूतानि रमन्ते**ऽतो रं प्राणः। सर्वभूताश्रयगुणमन्नं सर्वभूतरतिगुणश्च प्राणः। न हि कश्चिदनायतनो निराश्रयो रमते। नापि सत्यप्यायतनेऽप्राणो दुर्बलो रमते। यदा त्वायतनवान्प्राणी बलवांश्च तदा कृतार्थमात्मानं मन्यमानो रमते लोकः। ''युवा स्यात्साधुयुवाऽध्यायकः'' इत्यादिश्रुतेः। इदानीमेवंविदः फलमाह—**सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्त्य**न्नगुणज्ञानात्**सर्वाणि भूतानि रमन्ते** प्राणगुणज्ञानाद्य **एवं वेद ॥१॥**

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्यान्नप्राणनामचतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥१४॥

॥ इति त्रयोविंशाह्निकम् ॥२३॥

अस्यैव (हिरण्यगर्भ) ब्रह्मणः पुनरुक्थादिविशिष्टत्वेनोपासनमुच्यते.

उक्थं तथोपासनान्तरमुक्थं शस्त्रम्। तद्धि प्रधानं महाव्रते क्रतौ। किं

त्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥१॥

यजुः-प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥२॥

से प्राणवित् वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है; वह प्राण के सायुज्य और सालोक्य को जीत लेता है॥१॥

"यजुः" इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण के रहने पर ही किसी से योग हो सकता है। अतः प्राण ही यजुः है क्योंकि प्राण में ही इन सब भूतों का योग होता है। सभी भूत इसकी श्रेष्ठता के कारण श्रेष्ठ भाव से युक्त होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह यजुः रूप प्राण के सायुज्य एवं सालोक्य को जीत लेता है॥२॥

पुनस्तदुक्थम्? **प्राणो वा उक्थम्**। प्राणश्च प्रधान इन्द्रियाणामुक्थं च शस्त्राणामत उक्थमित्युपासीत। कथं प्राण उक्थमित्याह—**प्राणो हि** यस्माद**िदं सर्वमुत्थापयति**। उत्थापनादुक्थं प्राणः। न ह्यप्राणः कश्चिदुत्तिष्ठति। तदुपासनफलमाह—**उद्धास्मादे**वंविद **उक्थवित्प्राणविद्वीरः** पुत्र **उत्तिष्ठति** ह दृष्टमेतत्फलमदृष्टं **तूक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद**॥१॥

यजुरिति चोपासीत प्राणम्। **प्राणो वै यजुः**। कथं यजुः प्राणः। **प्राणे हि** यस्मात्**सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते**। न ह्यसति प्राणे केनचित्कस्यचिद्योगसामर्थ्यम्। अतो युनक्तीति प्राणो यजुः। एवंविदः फलमाह—**युज्यन्त** उद्यच्छन्त इत्यर्थः। **हास्मा** एवंविदे **सर्वाणि भूतानि** श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठभावस्तस्मै **श्रैष्ठ्याय** श्रेष्ठभावायायं नः श्रेष्ठो भवेदिति। **यजुषः** प्राणस्य **सायुज्य**मित्यादि सर्वं समानम्॥२॥

(साम दृष्टि से प्राण की उपासना)

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥३॥ (क्षत्र दृष्टि से प्राण की उपासना)

क्षत्त्रं प्राणो वै क्षत्त्रं प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्त्रमत्रमाप्नोति क्षत्त्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्योक्थादि-
दृष्टिनाम पञ्चदशं ब्राह्मणम्॥१५॥

'साम' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही साम है क्योंकि प्राण में ही सम्पूर्ण भूत सुसङ्गत होते हैं। समस्त प्राणी उसके लिये सङ्गत होते हैं और उसकी श्रेष्ठता के लिए समर्थ होते हैं। जो इस प्रकार प्राण की उपासना करते हैं, वे साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होते हैं॥३॥

प्राण ही 'क्षत्र' है। इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है, यह प्रसिद्ध है क्योंकि इस शरीर की शस्त्रादि-जनित पीड़ा से रक्षा प्राण ही करता है। अन्य किसी से त्राण न पाने वाले क्षत्र को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को जीत लेता है॥४॥

॥ इति पञ्चदशं ब्राह्मणम्॥

सामेति चोपासीत प्राणम्। **प्राणो वै साम**। कथं प्राणः साम। **प्राणे हि** यस्मात्**सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि** संगच्छन्ते संगमनात्साम्यापत्तिहेतुत्वात्साम प्राणः। **सम्यञ्चि** संगच्छन्ते **हास्मै सर्वाणि भूतानि**। न केवलं संगच्छन्त एव श्रेष्ठभावाय चास्मै **कल्पन्ते** समर्थ्यन्ते। **साम्नः सायुज्य**मित्यादि पूर्ववत्॥३॥

तं प्राणं **क्षत्त्र**मित्युपासीत। **प्राणो वै क्षत्त्रं** प्रसिद्धमेतत्**प्राणो हि**

(गायत्री के प्रथम पाद की उपासना.)

। अथ पञ्चमाध्यायस्य गायत्रीनाम षोडशं ब्राह्मणम्।

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥१॥

[भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः] इस प्रकार ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का पहला पाद भी आठ अक्षर वाला ही प्रसिद्ध है ("द्यौः" के यकार से ही आठ संख्या की पूर्ति होती है)। यह भूमि आदि ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। जो त्रैलोक्यात्मक रूप है, इस प्रकार इस गायत्री के इस त्रैलोक्य रूप पाद को जो जानता है; वह उस सभी को जीत लेता है, जो इस त्रिलोक में जितना भी है॥१॥

वै क्षत्त्रम्। कथं प्रसिद्धतेत्याह—त्रायते पालयत्येनं पिण्डं देहं प्राणः क्षणितोः शस्त्रादिहिंसितात्पुनर्मांसेनाऽऽपूरयति यस्मात्तस्मात्क्षतत्राणात्प्रसिद्धं क्षत्त्रत्वं प्राणस्य। विद्वत्फलमाह—**प्र क्षत्त्रमत्रं** न त्रायतेऽन्येन केनचिदित्यत्रं क्षत्त्रं प्राणस्तमत्रं क्षत्त्रं प्राणं **प्राप्नोती**त्यर्थः। शाखान्तरे वा पाठात्क्षत्त्रमात्रं प्राप्नोति प्राणो भवतीत्यर्थः। **क्षत्त्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद॥४॥**

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्योक्थादिदृष्टिर्नाम पञ्चदशं ब्राह्मणम्॥१५॥

ब्रह्मणो हृदयाद्यनेकोपाधिविशिष्टस्योपासनमुक्तम्। अथेदानीं गायत्र्युपाधिविशिष्टस्योपासनं वक्तव्यमित्यारभ्यते। सर्वच्छन्दसां हि गायत्रीछन्दः प्रधानभूतम्। तत्प्रयोक्तृगयत्राणाद्गायत्रीति हि वक्ष्यति। न चान्येषां छन्दसां प्रयोक्तृप्राणत्राणसामर्थ्यम्। प्राणात्मभूता च सा, सर्वच्छन्दसां चाऽऽत्मा प्राणः। प्राणश्च क्षतत्राणात्क्षत्त्रमित्युक्तम्। प्राणश्च गायत्री। तस्मात्तदुपासनमेव विधित्स्यते। द्विजोत्तमजन्महेतुत्वाच्च। "गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं" इति द्विजोत्तमस्य द्वितीयं जन्म गायत्रीनिमित्तम्। तस्मात्प्रधाना गायत्री। "ब्राह्मणा व्युत्थाय ब्राह्मणा अभिवदन्ति, स ब्राह्मणो विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति"।

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥२॥

तीनों वेद

ऋचः, यजूँषि और सामानि ये त्रयीविद्या के आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर वाली ही गायत्री का दूसरा पाद प्रसिद्ध है। संख्या की समानता होने के कारण यह ऋगादि ही इस गायत्री का दूसरा पाद है। इस प्रकार इस गायत्री के इस त्रयोविद्या रूप द्वितीय पाद को जो जानता है; वह उन सभी को जीत लेता है, जितनी यह त्रयीविद्या है अर्थात् त्रयीविद्या से जितना फल प्राप्त किया जा सकता है॥२॥

इत्युत्तमपुरुषार्थसम्बन्धं ब्राह्मणस्य दर्शयति। तच्च ब्राह्मणत्वं गायत्रीजन्ममूलमतो वक्तव्यं गायत्र्याः सतत्त्वम्। गायत्र्या हि यः सृष्टो द्विजोत्तमो निरङ्कुश एवोत्तम-पुरुषार्थसाधने अधिक्रियते। अतस्तन्मूलः परमपुरुषार्थसंबन्धः। तस्मात्तदुपासनविधानायाऽऽह—**भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्येतान्यष्टावक्षराणि। अष्टाक्षरम**ष्टा-वक्षराणि यस्य तदिदमष्टाक्षरम्। **ह वै** प्रसिद्धावद्योतकौ। **एकं** प्रथमं **गायत्र्यै** गायत्र्याः **पदम्**। यकारेणैवाष्टत्वपूरणम्। **एतदु हैवैतदेवास्या** गायत्र्याः पदं पादः प्रथमो भूम्यादिलक्षणस्त्रैलोक्यात्मा। अष्टाक्षरत्वसामान्यात्। एवमेतत्त्रैलोक्यात्मकं गायत्र्याः प्रथमं पदं यो वेद तस्यैतत्फलम्—**स विद्वान्यावत्किंचिदेषु त्रिषु लोकेषु** जेतव्यं, **तावत्सर्वं ह जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद**॥१॥

तथ**र्चो यजूंषि सामानीति** त्रयीविद्यानामाक्षराण्येतान्यप्यष्टावेव। **तथैवाष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदं** द्वितीय**मेतदु हैवास्या एत**-दृग्यजुःसामलक्षणमष्टाक्षरत्वसामान्यादेव। **स यावतीयं त्रयी विद्या** त्रय्या विद्यया यावत्फलजातमाप्यते **तावद्ध जयति योऽस्या एतद्**गायत्र्यास्त्रैविद्यलक्षणं **पदं वेद**॥२॥

(गायत्री के तृतीय पाद और चतुर्थ पाद की उपासना)

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै (आदित्य) चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष (रजोजात समस्त लोक) रज उपर्युपरि तपत्येवꣳ (सर्वलोक) (पुरुषः) (शोभा) हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेव पदं वेद॥३॥ (तुरीय शब्देन अभिधीयते: अभिधान कारक हेतु (उत्पत्ति) अभिधेय ज्ञापक हेतु.)

प्राण, अपान और व्यान, ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का तृतीया पाद भी आठ अक्षर वाला है। यह प्रण आदि ही संख्या में समानता होने के कारण इस गायत्री का तृतीय पाद है। इस प्रकार गायत्री के इस तृतीय पाद को जो जानता है, वह उस सभी को प्राप्त कर लेता है, जितना यह प्राणी समूह है और जो यह प्रकाशित होता है, वही इसका (आगे बतलाया जाने वाला) तुरीय दर्शत एवं परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है, उसी को तुरीय कहते हैं। "दर्शतं पदम्" इसका अर्थ यह है कि मानो यह आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष दीखता है। इसीलिये इसे दर्शत पद कहते हैं। 'परोरजा' इस पद का अर्थ यह है, यह सभी रज (लोकों) के ऊपर-ऊपर आधिपत्य स्थापित कर प्रकाशित होता है (सभी लोक पर आधिपत्य दिखलाने के लिये ही इस मन्त्र में "उपरि उपरि" ऐसा दो बार कहा हुआ है)। जो गायत्री के इस चतुर्थ पद को इस प्रकार जानता है, वह उसी प्रकार शोभा और कीर्ति से प्रकाशित होता है जैसे कि यह आदित्य सर्वाधिपत्य रूप शोभा और कीर्ति से तप रहा है॥३॥

तथा प्राणोऽपानो व्यान एतान्यपि प्राणाद्यभिधानाक्षराण्यष्टौ। तच्च गायत्र्यास्तृतीयंपदं, यावदिदं प्राणिजातं तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं गायत्र्यास्तृतीयं पदं वेद। अथानन्तरं गायत्र्यास्त्रिपदायाः शब्दात्मिकायास्तुरीयं पदमुच्यतेऽभिधेयभूतमस्याः प्रकृताया गायत्र्या **एतदेव** वक्ष्यमाणं **तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा**

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्श-महमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम, तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं, प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोगीय, इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा

पूर्वोक्त तीन पदों वाली वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पद में प्रतिष्ठित है। वह तुरीय पद सत्य में प्रतिष्ठित है। नेत्र ही सत्य है, नेत्र ही सत्य है (क्योंकि विवाद करने वाले की सत्यता नेत्र से देखने पर ही सिद्ध होती है) यह प्रसिद्ध है। इसीलिये यदि दो पुरुष ''मैंने देखा है, मैंने सुना है'' इस प्रकार विवाद करते हुए आवें तो उनमें से ''मैंने देखा है'' ऐसा जो कहता है, उसी के प्रति हम विश्वास करते हैं। निःसन्देह

य एष तपति। तुरीयमित्यादिवाक्यपदार्थं स्वयमेव व्याचष्टे श्रुतिः—**यद्वै चतुर्थं** प्रसिद्धं लोके **तदिह तुरीय**शब्देनाभिधीयते। दर्शतं पदमित्यस्य कोऽर्थः ? इत्युच्यते —**ददृश इव** दृश्यत इव **ह्येष** मण्डलान्तर्गतः पुरुषः। अतो दर्शतं पदमित्युच्यते। **परोरजा** इत्यस्य पदस्य कोऽर्थः ? इत्युच्यते—**सर्वं** समस्तम्**मु ह्येवैष** मण्डलस्थः पुरुषो **रजो** रजोजातं समस्तं लोकमित्यर्थः। **उपर्युपर्या**धिपत्यभावेन सर्वं लोकं रजोजातं **तपति**। उपर्युपरीति वीप्सा सर्वलोकाधिपत्यख्यापनार्था। ननु सर्वशब्देनैव सिद्धत्वाद्वीप्साऽनर्थिका। नैष दोषः। येषामुपरिष्टात्सविता दृश्यते तद्विषय एव सर्वशब्दः स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्था वीप्सा। ''ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च'' इति श्रुत्यन्तरात्। तस्मात्सर्वावरोधार्था वीप्सा। यथाऽसौ सविता सर्वाधिपत्य-लक्षणया श्रिया यशसा च ख्यात्या तपति, **एवं हैवं श्रिया यशसा च तपति योऽस्या एतदेवं** तुरीयं दर्शतं **पदं वेद**॥३॥

सैषा त्रिपदोक्ता या त्रैलोक्यत्रैविद्यप्राणादिलक्षणा **गायत्र्येतस्मिंश्चतु**र्थे

"भजन बिनु नेम्नि के बैल बने" कबीर वाणी

गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाꣳस्तत्रे तस्माद्गायत्रीनाम स यामेवामूꣳ सावित्रीमन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाꣳस्त्रायते॥४॥

यह तुरीय पद का आश्रय सत्य, बल से प्रतिष्ठित है। अतएव कहते हैं कि सत्य की अपेक्षा अधिक ओजस्वी बल है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म प्राण में स्थित है। इस गायत्री ने वागादि प्राण रूप गयों का त्राण किया था अर्थात् वागादि प्राण ही गय हैं। उनका इसने त्राण किया था, इसने गयों का त्राण किया था। इसीलिये तो इसका नाम गायत्री प्रसिद्ध हुआ है। उस आचार्य ने आठ वर्ष के बटु का उपनयन कर उसे जिस सविता देव संबन्धी गायत्री का उपदेश किया था, वह यही है। वह आचार्य जिस वटु को इस गायत्री का उपदेश करता है। यह गायत्री उस वटु के वागादि प्राण रूप गय की नरकादि में गिरने से रक्षा करती है॥४॥

तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता। मूर्तामूर्तरसत्वादादित्यस्य। रसापाये हि वस्तु नीरसमप्रतिष्ठितं भवति। यथा काष्ठादि दग्धसारं तद्वत्। तथा मूर्तामूर्तात्मकं जगत्त्रिपदा गायत्र्यादित्ये प्रतिष्ठिता तद्रसत्वात्सह त्रिभिः पादैः। **तद्वै तुरीयं पदं सत्ये प्रतिष्ठितम्**। किं पुनस्तत्सत्यमित्युच्यते— **चक्षुर्वै सत्यम्**। कथं चक्षुः सत्यमित्याह—प्रसिद्धमेतच्**चक्षुर्हि वै सत्यम्**। कथं प्रसिद्धतेत्याह— **तस्माद्यदीदानीमेव द्वौ विवदमानौ** विरुद्धं वदमानावे**यातामागच्छेयाता-महमदर्शं** दृष्टवानस्मीत्यन्य आ**हाहमश्रौषं** यत्त्वया दृष्टं न तथा तद्वस्त्विति, तयोर्य **एवं ब्रूयादहमद्राक्षमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम** न पुनर्यो ब्रूया-दहमश्रौषमिति। श्रोतुर्मृषा श्रवणमपि संभवति, न तु चक्षुषा मृषा दर्शनम्। तस्मान्नाश्रौष-मित्युक्तवते श्रद्दध्याम। तस्मात्सत्यप्रतिपत्तिहेतुत्वात्सत्यं चक्षुस्तस्मिन्सत्ये चक्षुषि सह त्रिभिरितरैः पादैस्तुरीयं पदं प्रतिष्ठितमित्यर्थः। उक्तं च ''स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति''।

तद्वै तुरीयपदाश्रयं **सत्यं बले प्रतिष्ठितम्**। किं पुनस्तद्बलमि-

अनुष्टुप् सावित्री का निषेध और गायत्री, सावित्री की महिमा

ताꣳहैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाच-मनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्री-

कुछ शाखा वाले इस (''तत्सवितुर्वृणीमहे, वयं देवस्य भोजनं, श्रेष्ठं सर्वधातमम्। तुरं भगस्य धीमहि'') ऐसे अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हैं। वाक् अनुष्टुप् है, उस सरस्वती का उपदेश करते हैं। ऐसा न करे; (तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्) इस सावित्री का ही उपदेश करे। यदि ऐसा जानने वाला अधिक

त्याह—**प्राणो वै बलं** तस्मिन्प्राणे बले **प्रतिष्ठितं** सत्यम्। तथाचोक्तं ''सूत्रे तदोतं च प्रोतं च'' इति। यस्माद्बले सत्यं प्रतिष्ठितं, **तस्मादाहुर्बलं सत्यादोगीय** ओजीय ओजस्तरमित्यर्थः। लोकेऽपि यस्मिन्हि यदाश्रितं भवति तस्मादाश्रितादाश्रयस्य बलवत्तरत्वं प्रसिद्धम्। न हि दुर्बलं बलवतः क्वचिदाश्रयभूतं दृष्टम्। **एवमुक्त**न्यायेन **उ एषा गायत्र्यध्यात्म**मध्यात्मे प्राणे **प्रतिष्ठिता। सैषा** गायत्री प्राणः। अतो गायत्र्यां जगत्प्रतिष्ठितम्। यस्मिन्प्राणे सर्वे देवा एकं भवन्ति सर्वे वेदाः कर्माणि फलं च। सैवं गायत्री प्राणरूपा सती जगत आत्मा। सा हैषा **गयांस्तत्रे** त्रातवती। के पुनर्गयाः। **प्राणा** वागादयो **वै गयाः**। शब्दकरणात्। तांस्तत्रे सैषा गायत्री। **तत्तत्र यद्यस्माद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम**। गयत्राणाद्गायत्रीति प्रथिता। **स** आचार्य उपनीय माणवकमष्टवर्षं **यामेवामूं सावित्रीं** सवितृदेवताका**मन्वाह** पच्छोऽर्धर्चशः समस्तां च, **एषैव सा** साक्षात्प्राणो जगत आत्मा माणवकाय समर्पितेहेदानीं व्याख्याता नान्या, स आचार्यो **यस्मै** माणवकायान्वाहानुवक्ति **तस्य** माणवकस्य गयान्**प्राणांस्त्रायते** नरकादिपतनात्॥४॥

तामेतां सावित्रीं हैके शाखिनोऽनुष्टुभमनुष्टुप्प्रभवामनुष्टुप्छन्दस्का**मन्वाहु**रुपनीताय। तदभिप्रायमाह—**वागनुष्टुप्**। वाक्च शरीरे सरस्वती तामेव हि वाचं सरस्वतीं माणवकायानुब्रूम इत्येतद्वदन्तः। **न तथा कुर्या**न्न तथा विद्याद्यत्ते आहुर्मृषैव तत्। किं तर्हि **गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात्**। कस्मात्? यस्मात्प्राणो

तीन लोक, त्रयीविद्या, यावदिदं त्रीणि जाप्यैनैव संसिद्धि: अन्यन् कुर्यां नैव कुर्याद् ब्राह्मण:

प्रतिग्रह जीवन का पतन का कारण.

मनुब्रूयाद्यदि ह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति॥५॥

(गायत्री के प्रत्येक पाद का महत्त्व)

स य इमाꣳस्त्रीँल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्ताव-त्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुया-

प्रतिग्रह भी करे तो भी गायत्री के एक पाद के बराबर भी वह प्रतिग्रह समुदाय नहीं हो सकता॥५॥

जो गायत्री उपासक गौ, अश्वादि धन से पूर्ण इन भूरादि तीन लोकों का दान स्वीकार करता है, उसका वह दान गायत्री के इस प्रथम पाद को व्याप्त करता है, अर्थात् वह प्रतिग्रह इससे अधिक दोष उत्पन्न नहीं कर सकता और जितना यह त्रयीविद्या है, जो उतना दान स्वीकार करता हो तो वह दान इस गायत्री के उस द्वितीय पाद को व्याप्त कर लेता है; तथा ये जितने प्राणी हैं, इनका दान गायत्री उपासक स्वीकार करता है, वह दान इस गायत्री के इस तृतीय पाद को व्याप्त करता है (अर्थात् पूर्वोक्त दान पादत्रय विज्ञान के फल मात्र के नाशक हो सकते हैं, अधिक दोष उत्पन्न नहीं कर सकते। ऐसी

गायत्रीत्युक्तम्। प्राण उक्ते वाक्च सरस्वती चान्ये च प्राणाः सर्वं माणवकाय समर्पितं भवति। किचेदं प्रसङ्गिकमुक्त्वा गायत्रीविदं स्तौति—**यदि ह वा अप्येवं-विदेवं** विद्वान्**बह्विव** न हि तस्य सर्वात्मनो बहु नामास्ति किंचित्सर्वात्मकत्वा-द्विदुषः **प्रतिगृह्णाति न हैव** तत्प्रतिग्रहजातं **गायत्र्या एकंचन**ैकमपि **पदं प्रति** पर्याप्तम्॥५॥

स य इमांस्त्रीन्स . यो गायत्रीविदिमान्भूरादीन्त्रीन्गोअश्वादिधन-

दथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाऽऽप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्॥६॥

कल्पना गायत्री उपासना की स्तुति के लिए की गई है)। एवं यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा पद है। जो यह अन्तरिक्ष में तपता है, यह किसी के प्राप्त करने के योग्य नहीं है क्योंकि इतना दान कोई कहाँ से कर सकता है (दान के अभाव में प्रतिग्रह का तो प्रसङ्ग ही नहीं होता, तात्पर्य यह है कि इस त्रिपद गायत्री की ही उपासना करनी चाहिये)॥६॥

पूर्णाँल्लोकान्प्रतिगृह्णीयात्स प्रतिग्रहोऽस्या गायत्र्या **एतत्प्रथमं पदं** यद्व्याख्यात**माप्नुयात्**प्रथमपदविज्ञानफलं, तेन भुक्तं स्यान्न त्वधिकदोषोत्पादकः स प्रतिग्रहः। **अथ पुनर्यावतीयं त्रयी विद्या** प्रसिद्धा तावत्तदवच्छिन्नं वस्तु **यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयात्**। द्वितीयपदविज्ञानफलं तेन भुक्तं स्यात्। तथा यावदिदं प्राणि, यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं **पदमाप्नुयात्**। तेन तृतीयपदविज्ञानफलं भुक्तं स्यात्। कल्पयित्वेदमुच्यते। पादत्रयसममपि यदि कश्चित्प्रतिगृह्णीयात्तत्पादत्रयविज्ञानफलस्यैव क्षयकारणं, न त्वन्यस्य दोषस्य कर्तृत्वे क्षमम्। न चैवं दाता प्रतिग्रहीता वा गायत्रीविज्ञानस्तुतये कल्प्यते। दाता प्रतिग्रहीता च यद्यप्येवं संभाव्यते, नासौ प्रतिग्रहोऽपराधक्षमः। कस्मात्? यतोऽभ्यधिकमपि पुरुषार्थविज्ञानमवशिष्टमेव चतुर्थपादविषयं गायत्र्यास्तद्दर्शयति। **अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति**। तच्चैतन्**नैव केनचन** केनचिदपि प्रतिग्रहेणा**ऽऽप्यं** नैव प्राप्यमित्यर्थः। यथा पूर्वोक्तानि त्रीणि पदानि। एतान्यपि नैवाऽऽप्यानि केनचित्। कल्पयित्वैवमुक्तं, परमार्थतः **कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्**त्रैलोक्यादिसमम्। तस्माद्गायत्र्येवं प्रकारोपास्येत्यर्थः॥६॥

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा-समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा॥७॥

उस गायत्री का इस मन्त्र से उपस्थान किया जाता है। हे गायत्री! तू त्रैलोक्य रूप प्रथम पाद से एकपदी है, त्रयीविद्या रूप द्वितीय पाद से द्विपदी है और प्राणादि रूप तृतीय पाद से त्रिपदी है तथा तुरीय पाद से चतुष्पदी है। वस्तुतः निरुपाधिक होने से तू अपद है अर्थात् तेरा कोई पद नहीं है, जिससे तू जानी जा सकती है। अतः व्यवहार से अतीत संपूर्ण लोकों से ऊपर विद्यमान तेरे दर्शन के योग्य तुरीय पद को नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु इस विघ्न बाधा रूप कार्य में सफलता प्राप्त न करें। एवं यह उपासक जिसे द्वेष करता हो, उसकी कामना पूर्ण न हो। इस प्रकार मन्त्र पढ़ कर गायत्री का उपस्थान करे। इस प्रकार जिसके लिये उपस्थान किया जाता है, उसका अभीष्ट कभी पूर्ण नहीं होता। अथवा मैं इसे प्राप्त करूँ, ऐसी कामना से गायत्री का उपस्थान करे (वहाँ पर उक्त मन्त्र पदों का उपासक को इच्छानुरूप विकल्प हो सकता है)॥७॥

तस्या उपस्थानं तस्या गायत्र्या उपस्थानमुपेत्य स्थानं नमस्करणमनेन मन्त्रेण। कोऽसौ मन्त्र इत्याह—हे **गायत्र्यसि** त्वं भवसि त्रैलोक्यपादे**नैकपदी**। त्रयीविद्यारूपेण द्वितीयेन **द्विपदी**। प्राणादिना तृतीयेन **त्रिपद्यसि**। चतुर्थेन तुरीयेण **चतुष्पद्यसि**। एवं चतुर्भिः पादैरुपासकैः पद्यसे ज्ञायसे। अतः परं परेण निरुपाधिकेन स्वेनाऽऽत्मना**ऽपदसि**। अविद्यमानं पदं यस्यास्तव येन पद्यसे सा त्वमपदसि यस्मा**न्नहि पद्यसे** नेति नेत्यात्मत्वात्। अतोऽव्यवहारविषयाय **नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे**। **असौ** शत्रुः पाप्मा त्वत्प्राप्ति-विघ्नकरो**ऽदस्**तदात्मनः कार्यं यत्त्वत्प्राप्तिविघ्नकर्तृत्वं **मा प्रापन्**मैव प्राप्नोतु।

(गायत्री के मुख विधान के लिये अर्थवाद)

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्वि-मुवाच यन्नु हो तद्‌गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्व-

उस गायत्री विज्ञान के विषय में विदेहराज जनक ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से यही बात कही थी कि तूने जो अपने को गायत्रीतत्त्व का ज्ञाता बतलाया था तो फिर भला प्रतिग्रह दोष के कारण हाथी बनकर भार क्यों ढोता है। इस पर बुडिल ने कहा— हे राजन्! मैं इस गायत्री का मुख नहीं जानता था (अर्थात् एक अङ्ग को न जानने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान निष्फल हो गया है)। तब जनक ने कहा— अग्नि ही इसका मुख है, यदि लौकिक पुरुष अग्नि में बहुत-सा ईंधन डाल देवे तो वह अग्नि सभी को

इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः। **यं द्विष्याद्यं** प्रति द्वेषं कुर्यात्स्वयं विद्वांस्तं प्रत्यने-नोपस्थानम्। **असौ** शत्रुरमुकनामेति नाम गृह्णीया**दस्मै** यज्ञदत्तायाभिप्रेतः **कामो मा समृद्धि** समृद्धिं मा प्राप्नोत्विति वोपतिष्ठते। **न हैवास्मै** देवदत्ताय **स कामः समृध्यते**। कस्मै? **यस्मै एवमुपतिष्ठते। अहमदो** देवदत्ताभिप्रेतं **प्रापमिति वो**पतिष्ठते। असावदो मा प्रापदित्यादित्रयाणां मन्त्रपदानां यथाकामं विकल्पः ॥७॥

गायत्र्या मुखविधानायार्थवाद उच्यते—**एतद्ध** किल **वै** स्मर्यते। **तत्त्र** गायत्रीविज्ञानविषये **जनको वैदेहो बुडिलो** नामतोऽश्वतराश्वस्यापत्यमा-**श्वतराश्विस्तं** किलोक्तवान्। **यन्नु** इति वितर्के, **हो** अहो इत्येतत्त**द्यत्त्वं गायत्रीविदब्रूथा** गायत्रीविदस्मीति यदब्रूथाः किमिदं तस्य वचसोऽननुरूपम्। **अथ कथं** यदि गायत्रीवित्प्रतिग्रहदोषेण **हस्तीभूतो वहसीति**। स प्रत्याह राज्ञा स्मारितो **मुखं** गायत्र्या **हि** यस्मा**दस्या** हे **सम्राण्न विदांचकार** न विज्ञातवानस्मीति **होवाच**। न, एकाङ्गविकलत्वाद्गायत्रीविज्ञानं ममाफलं जातम्। शृणु

मेव तत्संदहत्येवꣳ हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव सत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥८॥

इति बृहदारण्कोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य गायत्रीनाम षोडशं ब्राह्मणम् ॥८॥

। अथ पञ्चमाध्यायस्य सूर्याग्निप्रार्थनानाम सप्तदशं ब्राह्मणम्।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे

भस्म कर देती है। इसी प्रकार जो ऐसा जानता है, वह प्रतिग्रहादि बहुत-सा पाप करता रहा हो तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर और अमर हो जाता है अर्थात् उक्त विज्ञान वाला गायत्री उपासक अग्नि के समान प्रतिग्रह दोष से लिपायमान नहीं होता ॥८॥ ॥ इति षोडशं ब्राह्मणम् ॥

आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि और समष्टि अहङ्काररूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! मुझ सत्य धर्म जिज्ञासु को

तर्हि, तस्या गायत्र्या **अग्निरेव मुखम्। यदि ह वा अपि बह्विवेन्धनमग्नावभ्यादधति** लौकिकाः **सर्वमेव तत्संदहत्येवे**न्धनमग्नि**रेवं हैवैवंविद्**गायत्र्या अग्निर्मुखमित्येवं वेत्तीत्येवंवित्स्यात्स्वयं गायत्र्यात्माऽग्निमुखः सन्। **यद्यपि बह्विव पापं कुरुते** प्रतिग्रहादिदोषं, तत्सर्वं पापजातं **संप्साय** भक्षयित्वा **शुद्धो**ऽग्निवत्**पूतश्च**। तस्मात्प्रतिग्रहदोषाद्गायत्र्यात्मा**ऽजरोऽमृतश्च संभवति** ॥८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य गायत्रीनामषोडशं ब्राह्मणम् ॥१६॥

यो ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी, सोऽन्तकाल आदित्यं प्रार्थयति। अस्ति च प्रसङ्गो

यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्। समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि

उस सत्यात्मा ब्रह्म का दर्शन कराने के लिए तू उस आवरण को हटा दे। हे जगत्पोषक! हे एकर्षे! हे सूर्य! हे प्राजापत्य! तू अपनी किरणों को हटा ले और तेज को समेट ले। जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूँ। यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूँ। अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक-वायु) आधिदैविक-वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मान्त हो जावे। हे मेरे सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन! अब तू मेरे स्मरण के योग्य शुभ कर्म का स्मरण कर। हे ओम्! हे क्रतो! मेरे किये हुए का स्मरण कर। अब तू स्मरण कर। अपने किये हुए का स्मरण कर (क्योंकि

गायत्र्यास्तुरीयः पादो हि सः। तदुपस्थानं प्रकृतमतः स एव प्रार्थ्यते। **हिरण्मयेन** ज्योतिर्मयेन मण्डलेन **पात्रेण**, यथा पात्रेणेष्टं वस्त्वपिधीयत एवमिदं सत्याख्यं ब्रह्म ज्योतिर्मयेन मण्डलेनापिहितमिवासमाहितचेतसामदृश्यत्वात्। तदुच्यते— **सत्यस्यापिहितं मुखं** मुख्यं स्वरूपं,तदपिधानं पात्रमपिधानमिव दर्शनप्रतिबन्धकारणं **तत्त्वं** हे **पूषअ**गतः पोषणात्पूषा सविता**ऽपावृण्व**पावृतं कुरु दर्शनप्रतिबन्धकारणमपनयेत्यर्थः। **सत्यधर्माय** सत्यं धर्मोऽस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै त्वदात्मभूतायेत्यर्थः। **दृष्टये** दर्शनाय। **पूषन्नि**त्यादीनि नामान्यामन्त्रणार्थानि सवितुः। **एकर्षे**, एकश्चासावृषिश्चैकर्षिर्दर्शनादृषिः। स हि सर्वस्य जगत आत्मा चक्षुश्च सन्सर्वं पश्यत्येको वा गच्छतीत्येकर्षिः ''सूर्य एकाकी चरति'' इति मन्त्रवर्णात्। **यम** सर्वं हि जगतः संयमनं त्वत्कृतम्। **सूर्य**, सुष्ठ्वीरयते तोयादीन्रसान्रश्मीन्प्राणान्धियो वा जगत इति व्युत्पत्तेः।

देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायस्य सूर्याग्निप्रार्थनानाम
सप्तदशं ब्रह्मणम्॥१७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्याय॥५॥

इति बृहदारण्यकक्रमेण सप्तमोऽध्यायः॥७॥

स्मरण का समय आ गया है)। हे अग्नि! हमें अपने कर्म फल भोग के लिये शुभमार्ग से ले चलो। हे देव! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान एवं कर्म को जानने वाला है। अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो। इस समय हम मरणासन्न हैं, तेरी अन्य कोई सेवा नहीं कर सकते हैं। अतः हम तेरी अनेकों नमस्कारमात्र से परिचर्या करते हैं॥१॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य सप्तदशं ब्राह्मणम्॥

प्राजापत्य, प्रजापतेरीश्वरस्यापत्यं हिरण्यगर्भस्य वा हे प्राजापत्य, **व्यूह** विगमय **रश्मीन्**। **समूह** संक्षिपाऽऽत्मनस्तेजो, येनाहं शक्नुयां द्रष्टुम्। तेजसा ह्यपहतदृष्टिर्न शक्नुयां त्वत्स्वरूपमञ्जसा द्रष्टुम्। विद्योतन इव रूपाणामत उपसंहर **तेजः। यत्ते** तव **रूपं** सर्वकल्याणानामतिशयेन कल्याणं **कल्याणतमं तत्ते पश्यामि**। पश्यामो वयं वचनव्यत्ययेन। **योऽसौ** भूर्भुवःस्वर्व्याहृत्यवयवः **पुरुषः** पुरुषाकृतित्वात्पुरुषः **सोऽहमस्मि** भवामि। अहरहमिति चोपनिषद उक्तत्वा-दादित्यचाक्षुषयोस्तदेवेदं परामृश्यते, सोऽहमस्म्यमृतमिति संबन्धः। ममामृतस्य सत्यस्य शरीरपाते शरीरस्थो यः प्राणो **वायुः सोऽनिलं** बाह्यं वायुमेव प्रतिगच्छतु। तथाऽन्या देवताः स्वां स्वां प्रकृतिं गच्छन्तु। अथेदमपि **भस्मान्तं** सत्पृथिवीं यातु **शरीरम्**।

अथेदानीमात्मनः संकल्पभूतां मनसि व्यवस्थितामग्निदेवतां प्रार्थयते—**ॐ क्रतो**। ॐमिति क्रतो इति च संबोधनार्थावेव। ॐकारप्रतीकत्वादोम्। मनोमयत्वाच्च क्रतुः। हे ॐ हे **क्रतो स्मर** स्मर्तव्यमन्तकाले हि त्वत्स्मरणवशादिष्टा गतिः प्राप्यते। अतः प्रार्थ्यते यन्मया **कृतं** तत्**स्मर**। पुनरुक्तिरादरार्था। किंच हेऽ**ग्ने नय** प्रापय **सुपथा** शोभनेन मार्गेण, **राये** धनाय कर्मफलप्राप्तय इत्यर्थः। न दक्षिणेन कृष्णेन पुनरावृत्तियुक्तेन, किं तर्हि? शुक्लेनैव सुपथाऽ**स्मान्विश्वानि** सर्वाणि हे **देव वयुनानि** प्रज्ञानानि सर्वप्राणिनां **विद्वान्**। किंच **युयोध्य**पनयवियोजया**स्मद**स्मत्तो **जुहुराणं** कुटिल**मेनः** पापं पापजातं सर्वम्। तेन पापेन वियुक्ता वयमेष्याम उत्तरेण पथा त्वत्प्रसादात्। किंतु वयं तुभ्यं परिचर्यां कर्तुं न शक्नुमो, **भूयिष्ठां** बहुतमां **ते** तुभ्यं **नमउक्तिं** नमस्कारवचनं **विधेम** नमस्कारोक्त्या परिचरेमेत्यर्थः। अन्यत्कर्तुमशक्ताः सन्त[1] इति ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य
सूर्याग्निप्रार्थनानामसप्तदशं ब्राह्मणम् ॥१७॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

1 सुवर्णं विषवत् त्याज्यं ।
प्रतिष्ठा शववत् [illegible] ।
(?) राजधानी च त्याज्या
कुम्भीपाक नरकमिव ॥
II धीरन के मन विरत बडाई। कामिनी के दीनता दिखाई ॥

ॐ

अथ षष्ठोऽध्यायः

ज्येष्ठादि दृष्टि से प्राणोपासना

। प्राणसंवादनामप्रथमं ब्राह्मणम्।

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

ज्ञाति

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपने सजातीयों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो कोई इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह अपने सजातियों में तथा और भी जिन लोगों में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बनना चाहता है, उनमें भी वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बन जाता है॥१॥

ॐ प्राणो गायत्रीत्युक्तम्। कस्मात्पुनः कारणात्प्राणभावो गायत्र्या न पुनर्वागादिभाव इति। यस्माज्ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च प्राणो न वागादयो ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यभाजः। कथं ज्येष्ठत्वं श्रेष्ठत्वं च प्राणस्येति तन्निर्दिधारयिषयेदमारभ्यते। अथवोक्थ-यजुःसामक्षत्त्रादिभावैः प्राणस्यैवोपासनमभिहितं सत्स्वप्यन्येषु चक्षुरादिषु। तत्र हेतुमात्रमिहाऽऽनन्तर्येण संबध्यते। न पुनः पूर्वशेषता। विवक्षितं तु खिलत्वादस्य काण्डस्य पूर्वत्र यदनुक्तं विशिष्टफलं प्राणविषयमुपासनं तद्वक्तव्यमिति।

यः कश्चिद्ध **वा** इत्यवधारणार्थौ। **यो** ज्येष्ठश्रेष्ठगुणं वक्ष्यमाणं **वेदासौ भवत्येव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च**। एवं फलेन प्रलोभितः सन्प्रश्नायाभिमुखीभूतस्तस्मै चाऽऽह—प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। कथं पुनरवगम्यते प्राणो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति ?, यस्मान्निषेककाल एव शुक्रशोणितसंबन्धः प्राणादिकलापस्याविशिष्टः। तथाऽपि नाप्राणं शुक्रं विरोहतीति प्रथमो वृत्तिलाभः प्राणस्य चक्षुरादिभ्यः। अतो ज्येष्ठो

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥२॥

जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपने सजातियों में वसिष्ठ हो जाता है। वाक् ही वसिष्ठा है (क्योंकि अच्छे वक्ता धनादि संपन्न होकर सुख पूर्वक बसते हैं और सभा में दूसरों को परास्त कर देते हैं)। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनों में तथा अन्य लोगों में भी वसिष्ठ हो जाता है, जिनमें वह वसिष्ठ बनना चाहता है ॥२॥

वयसा प्राणः। निषेककालादारभ्य गर्भं पुष्यति प्राणः। प्राणे हि लब्धवृत्तौ पश्चाच्चक्षुरादीनां वृत्तिलाभः। अतो युक्तं प्राणस्य ज्येष्ठत्वं चक्षुरादिषु। भवति तु कश्चित्कुले ज्येष्ठो गुणहीनत्वात्तु न श्रेष्ठः। मध्यमः कनिष्ठो वा गुणाढ्यत्वाद्भवेच्छ्रेष्ठो न ज्येष्ठः। न तु तथेहेत्याह—प्राण एव तु ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। कथं पुनः श्रैष्ठ्यमवगम्यते प्राणस्य? तदिह संवादेन दर्शयिष्यामः। सर्वथाऽपि तु प्राणं ज्येष्ठश्रेष्ठगुणं यो वेदोपास्ते स **स्वानां** ज्ञातीनां **ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति**। ज्येष्ठश्रेष्ठगुणोपासनसामर्थ्यात्स्वव्यतिरेकेणा**पि च येषां** मध्ये ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भविष्यामीति **बुभूषति** भवितुमिच्छति, तेषामपि ज्येष्ठश्रेष्ठप्राणदर्शी ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति। ननु वयोनिमित्तं ज्येष्ठत्वं तदिच्छातः कथं भवतीत्युच्यते। नैष दोषः। प्राणवद्वृत्तिलाभस्यैव ज्येष्ठत्वस्य विवक्षितत्वात् ॥१॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति। तद्दर्शनानुरूपेण फलम्। येषां च ज्ञातिव्यतिरेकेण वसिष्ठो भवितुमिच्छति तेषां च वसिष्ठो भवति। उच्यतां तर्हि काऽसौ वसिष्ठेति। **वाग्वै वसिष्ठा**। वासयत्यतिशयेन वस्ते वेति वसिष्ठा। वाग्मिनो हि धनवन्तो वसन्त्यतिशयेन। आच्छादनार्थस्य वा वसेर्वसिष्ठा। अभिभवन्ति हि वाचा वाग्मिनोऽन्यान्। तेन वसिष्ठगुणवत्परिज्ञानाद्वसिष्ठगुणो भवतीति दर्शनानुरूपं फलम् ॥२॥

(प्रतिष्ठा दृष्टि से चक्षु की उपासना)

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥३॥

(संपद् दृष्टि से श्रोत्र की उपासना)

यो ह वै संपदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥४॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह समान देश-काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्गम्य तथा दुर्भिक्षादि विषम काल में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है क्योंकि चक्षु से ही समान और दुर्गम देश-काल में प्रतिष्ठित होता है। अतः जो प्रतिष्ठा गुण वाले चक्षु की उपासना करता है, वह समान और दुर्गम देश में प्रतिष्ठित होता है॥३॥

जो संपद् को जानता है, वह जिस भोग को चाहता है, वही अच्छी प्रकार से उसे प्राप्त हो जाता है। श्रोत्र ही संपद् है क्योंकि श्रोत्र में ही ये सब वेद भली प्रकार निष्पन्न होते हैं (अर्थात् श्रोत्र वाला ही वेद का अध्ययन करता है और वेदविहित कर्मों के अधीन ही सभी भोग हैं)। जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोग को चाहता है, वही उसे सम्यक् प्रकार से मिल जाता है॥४॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा तां प्रतिष्ठागुणवतीं यो वेद तस्यैतत्फलं **प्रतितिष्ठति समे** देशे काले च। तथा **दुर्गे** विषमे च दुर्गमने च देशे दुर्भिक्षादौ वा काले विषमे। यद्येवमुच्यतां काऽसौ प्रतिष्ठा? **चक्षुर्वै प्रतिष्ठा**। कथं चक्षुषः प्रतिष्ठात्वमित्याह—**चक्षुषा हि समे च दुर्गे च** दृष्ट्वा **प्रतितिष्ठति**। अतोऽनुरूपं फलं **प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेदेति**॥३॥

यो ह वै संपदं वेद संपद्गुणयुक्तं यो वेद तस्यैतत्फलमस्मै विदुषे

**यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनꣳ स्वानां भवत्या-
यतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भव-
त्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥५॥**

**यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो
वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥**

जो आश्रय को जानता है, वह स्वजनों का आश्रय होता है तथा अन्यजनों का भी आश्रय हो जाता है। मन ही आयतन है (क्योंकि मनःसंकल्प के अधीन इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं और विषय से निवृत्त भी होती हैं) जो इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वजनों का आयतन होता है तथा अन्यजनों का भी आयतन होता है ॥५॥

जो कोई भी प्रजापति को जानता है, वह प्रजा और पशुओं से संपन्न होता है। रेत ही प्रजापति है (क्योंकि रेत से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है)। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से संपन्न होता है ॥६॥

संपद्यते ह। किम्? **यं कामं कामयते** स कामः। किं पुनः संपद्गुणकम्। **श्रोत्रं वै संपत्**। कथं पुनः श्रोत्रस्य संपद्गुणकत्वमिति। उच्यते — **श्रोत्रे** सति **हि** यस्मात्**सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः** श्रोत्रेन्द्रियवतोऽध्येयत्वात्। वेदविहितकर्मायत्ताश्च कामास्तस्माच्छ्रोत्रं संपत्। अतो विज्ञानानुरूपं फलम्। **सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद** ॥४॥

यो ह वा आयतनं वेद। **आयतन**माश्रयस्तद्यो **वेदाऽऽयतनं स्वानां भवत्यायतनं जनाना**मन्येषामपि। किं पुनस्तदायतनमिति। उच्यते— **मनो वा आयतन**माश्रय इन्द्रियाणां विषयाणां च। मनआश्रिता हि विषया आत्मनो भोग्यत्वं प्रतिपद्यन्ते। मनःसंकल्पवशानि चेन्द्रियाणि प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते च। अतो मन आयतनमिन्द्रियाणाम्। अतो दर्शनानुरूपेण फल**मायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद** ॥५॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभिश्च संपन्नो

कल्पित-आख्यान छान्दोग्य में भी है. V अध्याय । मे खण्ड.

(अपनी श्रेष्ठता के लिये विवाद करने वाले वागादि प्राणों को ब्रह्म द्वारा निर्णय प्राप्त करना)

ते हेमे प्राणा अहश्रंश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्वः उत्क्रान्त इदश्रं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥७॥

(उत्कृष्टता के लिये सर्व प्रथम वाणी की परीक्षा)

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच

ये वागादि प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए प्रजापति के पास गये। पूछे जाने पर ब्रह्मा से ये बोले— भगवन्! हममें से कौन वसिष्ठ है। ब्रह्मा ने कहा-तुममें से जिसके शरीर से निकल जाने पर यह शरीर अत्यन्त पापी माना जाता हो, वही तुममें वसिष्ठ है (वसिष्ठ को जानते हुए भी दूसरे को अप्रिय न लगे, इसी अभिप्राय से प्रजापति ने वसिष्ठ को स्पष्ट शब्दों मे नहीं कहा)॥७॥

पहले वाक् ने इस शरीर से उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष तक बाहर रहकर

भवति। **रेतो वै प्रजातिः**। रेतसा प्रजननेन्द्रियमुपलक्ष्यते। तद्विज्ञानानुरूपं फलं **प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद**॥६॥

ते हेमे प्राणा वागादयो**ऽहंश्रेयसे**ऽहं श्रेयानित्येतस्मै प्रयोजनाय **विवदमाना** विरुद्धं वदमाना **ब्रह्म जग्मुर्**ब्रह्म गतवन्तो ब्रह्मशब्दवाच्यं प्रजापतिं गत्वा च **तद्ब्रह्म होचुरु**क्तवन्तः। **को नो**ऽस्माकं मध्ये **वसिष्ठः** कोऽस्माकं मध्ये वसति च वासयति च। **तद्**ब्रह्म तैः पृष्टं स**द्धोवाचो**क्तव**द्यस्मिन्वो** युष्माकं मध्य **उत्क्रान्ते** निर्गते शरीरादिदं **शरीरं** पूर्वस्मादतिशयेन **पापीयः** पापतरं **मन्यते** लोकः। शरीरं हि नामानेकाशुचिसंघातत्वाज्जीवतोऽपि पापमेव ततोऽपि कष्टतरं यस्मिन्नुत्क्रान्ते भवति। वैराग्यार्थमिदमुच्यते—पापीय इति। **स वो** युष्माकं मध्ये **वसिष्ठो** भवति। जानन्नपि वसिष्ठं प्रजापतिर्नोवाचायं वसिष्ठ इतीतरेषाम-प्रियपरिहाराय॥७॥

त एवमुक्ता ब्रह्मणा प्राणा आत्मनो वीर्यपरीक्षणाय क्रमेणोच्चक्रमुः। तत्र

कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥८॥

(परीक्षा में असफल हो चक्षु का पुनः शरीर में प्रवेश.)

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण

वापस आकर कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? इसपर वे बोले— जैसा गूँगा वाणी से न बोलते हुए, प्राण से प्राणन व्यापार करते हुए, नेत्र से देखते, कान से सुनते मन से कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जानते, जननेन्द्रिय से प्रजा को उत्पन्न करते हुए जीते रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवत रहे। यह सुनकर वाक् अपने को वसिष्ठ न समझ कर शरीर में प्रवेश कर गया॥८॥

चक्षु ने शरीर से उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास कर लौटकर अन्य प्राणों से उसने कहा— तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? अन्य इन्द्रियों ने कहा— जैसे अन्धे नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, कान से सुनते, मन से जानते, शिश्न से सन्तान उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित

वागेव प्रथमं **ह्यस्माच्छरीरादुच्चक्रामोत्क्रान्तवती। सा** चोत्क्रम्य **संवत्सरं प्रोष्य** प्रोषिता भूत्वा पुनर**ागत्योवाच—कथमशकत** शक्तवन्तो यूयं **मदृते** मां विना **जीवितुमिति। त** एवमुक्ता **ऊचुर्यथा** लोके**ऽकला** मूका **अवदन्तो वाचा प्राणन्तः** प्राणनव्यापारं कुर्वन्तः **प्राणेन पश्यन्तो** दर्शनव्यापारं **चक्षुषा** कुर्वन्तस्तथा **शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा** कार्याकार्यादिविषयं **प्रजायमाना रेतसा** पुत्रानुत्पादयन्त **एवमजीविष्म** वय**मित्ये**वं प्राणैर्दत्तोत्तरा वागात्मनोऽस्मिन्नवसिष्ठत्वं बुद्ध्वा **प्रविवेश ह वाक्** ॥८॥

विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥ (परीक्षा में असफल श्रोत्र का पुनः देह में प्रवेश)

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥
(परीक्षा में असफल मन का पुनः प्रवेश)

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥११॥
(परीक्षा में असफल रेत का देह में पुनः प्रवेश)

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथम-

रहे। यह सुनकर नेत्र शरीर में प्रवेश कर गया॥९॥

श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटकर उसने कहा— तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे? अन्य प्राणों ने कहा— जैसे बहरे कानों से न सुनते हुए भी, प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, मन से मनन करते, शिश्न से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम सब जीवित रहे। उसके बाद श्रोत्र ने भी देह में प्रवेश किया॥१०॥

मन ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटने पर उसने अन्य प्राणों से कहा— तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? उन्होंने कहा— जैसे मुग्ध पुरुष मन से न जानते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, कानों से सुनते, शिश्न से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवत रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवित रहे। इसके बाद मन भी शरीर में प्रवेश कर गया॥११॥

रेत ने उत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्ष तक बाहर रहने के बाद लौट कर अन्य

शकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवम-जीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः॥१२॥

(उत्क्रमण करने के समय ही प्राण की श्रेष्ठता का इन्द्रियों द्वारा स्वीकार करना)

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्संववर्ह ते

प्राणों से कहा— तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? उन्होंने कहा— जैसे नपुंसक शिश्न से प्रजा न उत्पन्न करते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, कानों से सुनते और मन से जानते हुए जीवित रहते हैं, ऐसे ही हम लोग भी जीवित रहे। यह सुनकर वीर्य ने भी पुनः शरीर में प्रवेश किया॥१२॥

उसके बाद जब मुख्य प्राण उत्क्रमण करने लगा (उसी समय वागादि प्राण अपने स्थान से विचलित हो गये)। जैसे सिन्धुदेश में उत्पन्न अच्छी जाति का घोड़ा परीक्षा के समय पैर बाँधने के खूँटों को उखाड़ डालता है, वैसे ही मुख्य प्राण ने भी इन वागादि प्राणों को अपने स्थान से विचलित कर दिया। उन वागादि ने कहा— हे भगवन्! आप उत्क्रमण न करें क्योंकि आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्राण ने कहा— (तुम्हें मेरी श्रेष्ठता का पता लग गया है, अतः अब तुम लोग)

तथा **चक्षुर्होच्चक्रामे**त्यादि पूर्ववत्। श्रोत्रं मनः प्रजातिरिति॥९॥ ॥१०॥ ॥११॥ ॥१२॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्नुत्क्रमणं करिष्यंस्तदानीमेव स्वस्थानात्प्रचलिता वागादयः। किमिवेत्याह— **यथा** लोके महांश्चासौ सुहयश्च **महासुहयः** शोभनो हयो लक्षणोपेतो महान्परिमाणतः सिन्धुदेशे भवः **सैन्धवो**ऽभिजनतः **पड्वीशशङ्कू**न्पादबन्धनशङ्कून्पड्वीशाश्च ते शङ्कवश्च तान्**संवृहे**दुद्यच्छेद्युगपदुत्खनेदश्वारोह आरूढे परीक्षणाय। **एवं हैवेमान्**वागादीन्**प्राणा-**

कैकेयी के मुख से राम का प्रसंसा अच्छा नहीं लग रहा है। जैसा तीर्थ मगध में पड़ा।
अंग बंग कलिंग सौराष्ट्र मगधेषु बिना तीर्थयात्रां गच्छेद् यदि पुन: संस्कार-

बिहार

होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥१३॥

(वागादि द्वारा प्राण की स्तुति और भेंट प्रदान करना)

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति

मुझे भेंट दिया करो। वागादि प्राणों ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर प्राण को भेंट देना स्वीकार किया॥१३॥

उस वागिन्द्रिय ने कहा— मैं जो वसिष्ठा हूँ, वह वस्तुतः उस वसिष्ठत्व गुण से युक्त तुम्हीं हो। मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, वह तुम्हीं उस प्रतिष्ठा से युक्त हो ऐसा नेत्र ने कहा। श्रोत्र ने कहा— मैं जो संपद् हूँ, वह तुम्हीं उस संपद् गुण से युक्त हो। मन ने कहा— जो

न्संववर्होद्यतवान्स्वस्थानाद्भ्रंशितवान्। **ते** वागादयो **होचुर्हे भगवो** भगव-**न्मोत्क्रमीर्यस्मान्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते** त्वां विना **जीवितुमिति**। यद्येवं मम श्रेष्ठता विज्ञाता भवद्भिरहमत्र **श्रेष्ठस्तस्य उ मे** मम **बलिं** करं **कुरुत** करं प्रयच्छ**तेति**। अयं च प्राणसंवादः कल्पितो विदुषः श्रेष्ठपरीक्षणप्रकारोपदेशः। अनेन हि प्रकारेण विद्वान्को नु खल्वत्र श्रेष्ठ इति परीक्षणं करोति। स एष परीक्षण-प्रकारः संवादभूतः कथ्यते। न ह्यन्यथा संहत्यकारिणां सतामेषामञ्जसैव संवत्सर-मात्रमेवैकैकस्य निर्गमनाद्युपपद्यते। तस्माद्विद्वानेवानेन प्रकारेण विचारयति वागादीनां प्रधानबुभुत्सुरुपासनाय बलिं प्रार्थिताः सन्तः प्राणा**स्तथेति**प्रतिज्ञातवन्तः॥१३॥

सा ह वाक्प्रथमं बलिदानाय प्रवृत्ता ह किलो**वाचो**क्तवती **यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि** यन्मम वसिष्ठत्वं तत्तवैव तेन वसिष्ठगुणेन **त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति। यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसि** या मम प्रतिष्ठा सा त्वमसीति। **चक्षु**रुवाचेति प्रत्येकं सर्वत्र संबध्यते। समानमन्यत्। संपदाय-तनप्रजातित्वगुणान्क्रमेण समर्पितवन्तः। यद्येवं साधु बलिं दत्तवन्तो भवन्तो ब्रूत **तस्य उ म** एवंगुणविशिष्टस्य **किमन्नं? किं वासः? इति**। आहुरितरे—

श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥१४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य-
प्राणसंवादनाम प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१ ॥

मैं आयतन हूँ, वह वस्तुतः तुम्हीं आयतन हो। रेत ने कहा— मैं जो प्रजापति हूँ, वह भी वस्तुतः तुम्हीं उस प्रजातित्व गुण से युक्त हो। (प्राण ने कहा— कोरी वस्तु से क्या लाभ है, अब बतलाओ कि) ऐसे गुणों से युक्त होने पर मेरा अन्न क्या है, वस्त्र क्या है? वागादि ने कहा— लोक में कुत्ते, कृमि और कीट पतङ्गादि से लेकर यह जो कुछ भी है, वही सब तेरा अन्न है और जल ही तेरा वस्त्र है। इस प्रकार जो प्राण के अन्न को जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्य का भक्षण नहीं होता और न अभक्ष्य का प्रतिग्रह ही होता है। ऐसा जानने वाले श्रोत्रिय विद्वान् भोजन से पूर्व आचमन करते हैं और भोजन के पश्चात् भी। उसी को वे उस प्राण को अनग्न करना अर्थात् वस्त्र पहराना मानते हैं॥१४॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

यदिदं लोके **किंच** किंचिदन्नं नामाप्या **श्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यः**। यच्च श्वान्नं कृम्यन्नं कीटपतङ्गान्नं च तेन सह सर्वमेव यत्किंचित्प्राणिभिरद्यमानमन्नं **तत्सर्वं** ते **तवान्नं** सर्वं प्राणस्यान्नमिति दृष्टिरत्र विधीयते।

केचित्तु सर्वभक्षणे दोषाभावं वदन्ति प्राणान्नविदः। तदसत्। शास्त्रान्तरेण प्रतिषिद्धत्वात्। तेनास्य विकल्प इति चेत्। न। अविधायकत्वात्। न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवतीति सर्वं प्राणस्यान्नमित्येतस्य विज्ञानस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमेतत्। तेनैक-वाक्यतापत्तेः। न तु शास्त्रान्तरविहितस्य बाधने सामर्थ्यमन्यपरत्वादस्य। प्राणमात्रस्य सर्वमन्नमित्येतद्दर्शनमिह विधित्सितं न तु सर्वं भक्षयेदिति।

यत्तु सर्वभक्षणे दोषाभावज्ञानं, तन्मिथ्यैव, प्रमाणाभावात्। विदुषः प्राणत्वा-त्सर्वान्नोपपत्तेः सामर्थ्याददोष एवेति चेत्। न। अशेषान्नत्वानुपपत्तेः। सत्यं यद्यपि विद्वान्प्राणो येन कार्यकरणसंघातेन विशिष्टस्य विद्वत्ता, तेन कार्यकरणसंघातेन कृमिकीटदेवाद्यशेषान्नभक्षणं नोपपद्यते। तेन तत्राशेषान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापन-मनर्थकम्। अप्राप्तत्वादशेषान्नभक्षणदोषस्य। ननु प्राणः सन्भक्षयत्येव कृमिकी-टाद्यन्नमपि। बाढम्। किंतु न तद्विषयः प्रतिषेधोऽस्ति। तस्माद्दैवरक्तं किंशुकं तत्र दोषाभावः। अतस्तद्रूपेणाशेषान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापनमनर्थकम्। अप्राप्तत्वादशेषान्न-भक्षणदोषस्य। येन तु कार्यकरणसङ्घातसंबन्धेन प्रतिषेधः क्रियते तत्संबन्धेन त्विह नैव प्रतिप्रसवोऽस्ति। तस्मात्तत्प्रतिषेधातिक्रमे दोष एव स्यादन्यविषयत्वान्न ह वा इत्यादेः।

न च ब्राह्मणादिशरीरस्य सर्वान्नत्वदर्शनमिह विधीयते किंतु प्राणमात्रस्यैव। यथा च सामान्येन सर्वान्नस्य प्राणस्य किंचिदन्नजातं कस्यचिज्जीवनहेतुः, तथा विषं विषजस्य क्रिमेः, तदेवान्यस्य प्राणान्नमपि सद्दृष्टमेव दोषमुत्पादयति मरणादिलक्षणम्। तथा सर्वान्नस्यापि प्राणस्य प्रतिषिद्धान्नभक्षणे ब्राह्मणत्वादिदेहसंबन्धा-द्दोष एव स्यात्। तस्मान्मिथ्याज्ञानमेवाभक्ष्यभक्षणे दोषाभावज्ञानम्।

आपो वास इत्यापो भक्ष्यमाणा वासःस्थानीयास्तव। अत्र च प्राणस्याऽऽपो वास इत्येतद्दर्शनं विधीयते। न तु वासःकार्य आपो विनियोक्तुं शक्याः। तस्मा-द्यथाप्राप्तेऽब्भक्षणे दर्शनमात्रं कर्तव्यम्। **न ह वा अस्य** सर्वं प्राणस्यान्नमित्येवं-विदोऽनन्नमनदनीयं **जग्धं** भुक्तं न **भवति** ह। यद्यप्यनेनानदनीयं भुक्तमदनीयमेव भुक्तं स्यान्न तु तत्कृतदोषेण लिप्यत इत्येतद्विद्यास्तुतिरित्यवोचाम। तथा **नानन्नं**

प्रतिगृहीतं यद्यप्यप्रतिग्राह्यं हस्त्यादि प्रतिगृहीतं स्यात्तदप्यन्नमेव प्रतिग्राह्यं प्रतिगृहीतं स्यात्तत्राप्यप्रतिग्राह्यप्रतिग्रहदोषेण न लिप्यत इति स्तुत्यर्थमेव **य एवमेतदनस्य** प्राणस्या**न्नं वेद**। फलं तु प्राणात्मभाव एव न त्वेतत्फलाभिप्रायेण, किं तर्हि स्तुत्यभिप्रायेणेति। नन्वेतदेव फलं कस्मान्न भवति। न। प्राणात्मदर्शिनः प्राणात्मभाव एव फलम्। तत्र च प्राणात्मभूतस्य सर्वात्मनोऽनदनीयमप्याद्यमेव। तथाऽप्रतिग्राह्यमपि प्रतिग्राह्यमेवेति यथाप्राप्तमेवोपादाय विद्या स्तूयते। अतो नैव फलविधिस्वरूपता वाक्यस्य।

यस्मादापो वासः प्राणस्य तस्मा**द्विद्वांसो** ब्राह्मणाः **श्रोत्रिया** अधीतवेदा **अशिष्यन्तो** भोक्ष्यमाणा **आचामन्त्यपः**। **अशित्वाऽऽचामन्ति** भुक्त्वा चोत्तरकालमपो भक्षयन्ति। तत्र तेषामाचामतां कोऽभिप्राय इत्याह— **एतमेवानं** प्राण**मनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते**। अस्ति चैतद्यो यस्मै वासो ददाति स तमनग्नं करोमीति हि मन्यते। प्राणस्य चाऽऽपो वास इति ह्युक्तम्। यदपः पिबामि तत्प्राणस्य वासो ददामीति विज्ञानं कर्तव्यमित्येवमर्थमेतत्। ननु भोक्ष्यमाणो भुक्तवांश्च प्रयतो भविष्यामीत्याचामति। तत्र च प्राणस्यानग्नताकरणार्थत्वे च द्विकार्यताऽऽचमनस्य स्यात्। न च कार्यद्वयमाचमनस्यैकस्य युक्तम्। यदि प्रायत्यार्थं नानग्नतार्थमथानग्नतार्थं न प्रायत्यार्थम्। यस्मादेवं तस्माद्द्वितीयमाचमनान्तरं प्राणस्यानग्नताकरणाय भवतु। न, क्रियाद्वित्वोपपत्तेः। द्वे ह्येते क्रिये भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं स्मृतिविहितं तत्प्रायत्यार्थं भवति क्रियामात्रमेव। न तु तत्र प्रायत्यं दर्शनाद्यपेक्षते। तत्र चाऽऽचमनाङ्गभूतास्वप्सु वासोविज्ञानं प्राणस्येतिकर्तव्यतया चोद्यते। न तु तस्मिन्क्रियमाण आचमनस्य प्रायत्यार्थता बाध्यते, क्रियान्तरत्वादाचमनस्य। तस्मात् भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं, तत्र आपो वासः प्राणस्येति दर्शनमात्रं विधीयते। अप्राप्तत्वादन्यतः ॥१४॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्राणसंवादनामप्रथमंब्राह्मणम् ॥१॥

॥ इति चतुर्विंशाह्निकम् ॥ २४ ॥

❀❀❀

। अथ षष्ठाध्यायस्य कर्मविभागनाम द्वितीयं ब्राह्मणम्।

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेय इत्यस्य संबन्धः। खिलाधिकारोऽयं। तत्र यदनुक्तं तदुच्यते। सप्तमाध्यायान्ते ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिणाऽग्नेर्मार्गयाचनं कृतम्। अग्ने नय सुपथेति। तत्रानेकेषां पथां सद्भावो मन्त्रेण सामर्थ्यात्प्रदर्शितः, सुपथेति विशेषणात्। पन्थानश्च कृतविपाकप्रतिपत्तिमार्गाः। वक्ष्यति च यत्कृत्वेत्यादि। तत्र च कति कर्मविपाकप्रतिपत्तिमार्गा इति सर्वसंसारगत्युपसंहारार्थोऽयमारम्भः। एतावती हि संसारगतिः। एतावान्कर्मणो विपाकः स्वाभाविकस्य शास्त्रीयस्य च सविज्ञानस्येति। यद्यपि द्वया ह प्राजापत्या इत्यत्र स्वाभाविकः पाप्मा सूचितः। न च तस्येदं कार्यमिति विपाकः प्रदर्शितः। शास्त्रीयस्यैव तु विपाकः प्रदर्शितस्त्र्यन्नात्मप्रतिपत्त्यन्तेन। ब्रह्मविद्यारम्भे तद्वैराग्यस्य विवक्षितत्वात्। तत्रापि केवलेन कर्मणा पितृलोको, विद्यया विद्यासंयुक्तेन च कर्मणा देवलोक इत्युक्तम्। तत्र केन मार्गेण पितृलोकं प्रतिपद्यते, केन वा देवलोकमिति नोक्तम्। तच्चेह खिलप्रकरणेऽशेषतो वक्तव्यमित्यत आरभ्यते। अन्ते च सर्वोपसंहारः शास्त्रस्येष्टः।

अपि चैतावदमृतत्वमित्युक्तं न कर्मणोऽमृतत्वाशाऽस्तीति च, तत्र हेतुर्नोक्तस्तदर्थश्चायमारम्भः। यस्मादियं कर्मणो गतिर्न नित्येऽमृतत्वे व्यापारोऽस्ति, तस्मादेतावदेवामृतत्वसाधनमिति सामर्थ्याद्धेतुत्वं संपद्यते। अपि चोक्तमग्निहोत्रे न त्वेवैतयोस्त्वमुत्क्रान्तिं न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनं वेत्थेति। तत्र प्रतिवचने "ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः" इत्यादिना आहुतेः कार्यमुक्तम्। तच्चैतत्कर्तुराहुतिलक्षणस्य कर्मणः फलम्। न हि कर्तारमनाश्रित्याऽऽहुतिलक्षणस्य कर्मणः स्वातन्त्र्येणोत्क्रान्त्यादिकार्यारम्भ उपपद्यते। कर्त्रर्थत्वात्कर्मणः कार्यारम्भस्य। साधनाश्रयत्वाच्च कर्मणः। तत्राग्निहोत्रस्तुत्यर्थत्वादग्निहोत्रस्यैव कार्यमित्युक्तं षट्प्रकारमपि। इह तु तदेव कर्तुः फलमित्युपदिश्यते षट्प्रकारमपि, कर्मफलविज्ञानस्य विवक्षितत्वात्। तद्द्वारेण च पञ्चाग्निदर्शनमिहोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विधित्सितम्। एवमशेषसंसारगत्युपसंहारः। कर्मकाण्डस्यैषा निष्ठेत्येतद्द्वयं दिदर्शयिषुराख्यायिकां प्रणयति —

(प्रवाहण एवं श्वेतकेतु का संवाद)

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चांलानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमारा ३ इति स भो ३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच॥१॥

पुंजन्म लभते माता पत्नी च प्रैषमात्रतः ब्रह्मनिष्ठः सुशीलश्च ज्ञानं चैतत्प्रभवतः

प्रसिद्ध आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु एक बार पाञ्चालों की सभा में आया। वह जीवल के पुत्र प्रवाहण नामक पाञ्चालराज के पास पहुँचा। उस समय वह राजा सेवकों से सेवा करा रहा था (राजा ने उसके विद्याभिमान और गर्व के विषय में पहले से ही सुन रखा था। अतः विनीत बनाने के लिये) उसे आते देखते ही प्रवाहण ने कहा— भो कुमार! उसने उत्तर दिया— भो! (ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय को 'भो' शब्द से सम्बोधित नहीं करना चाहिये, फिर भी क्रोधावेश में उसने ऐसा किया) प्रवाहरण ने कहा— क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है? तब श्वेतकेतु ने कहा— हाँ, पिता ने मुझे शिक्षा दी है॥१॥

श्वेतकेतुर्नामतोऽरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्य**मारुणेयः**। **ह**शब्द ऐतिह्यार्थः। **वै**शब्दो निश्चयार्थः। पित्राऽनुशिष्टः सन्नात्मनो यशः प्रथनाय **पञ्चालानां परिषदमाजगाम**। पञ्चालाः प्रसिद्धास्तेषां परिषदमागत्य जित्वा राज्ञोऽपि परिषदं जेष्यामीति गर्वेण **स आजगाम**। जीवलस्यापत्यं **जैवलि**स्तं पञ्चालराजं **प्रवाहण**नामानं स्वभृत्यैः **परिचारयमाण**मात्मनः परिचरणं कारयन्तमित्येतत्। स राजा पूर्वमेव तस्य विद्याभिमानगर्वं श्रुत्वा विनेतव्योऽयमिति मत्वा **तमुदीक्ष्यो**त्प्रेक्ष्याऽऽगतमात्रमेवा**भ्युवादा**भ्युक्तवान्**कुमारा३ इति** संबोध्य। भर्त्सनार्था प्लुतिः। एवमुक्तः **स** प्रतिशुश्राव **भो३ इति**। भो३ इत्यप्रतिरूपमपि क्षत्रियं प्रत्युक्तवान्क्रुद्धः सन्। **अनुशिष्टो**ऽनुशासितो**ऽसि** भवसि किं **पित्रेत्यु**वाच राजा। प्रत्याहेतर **ओमिति** बाढमनुशिष्टोऽस्मि पृच्छ, यदि संशयस्ते॥१॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्याᳬ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं

जैसे मरने के बाद यह प्रजा विभिन्न मार्गों से जाती है, उसे क्या तू जानता है? श्वेतकेतु ने कहा— नहीं। राजा ने पूछा— जैसे वह फिर इस लोक में लौट कर आती है, क्या तू उसे जानता है? श्वेतकेतु ने कहा— नहीं। राजा ने पूछा— इस प्रकार बार बार बहुतों के मर कर जाने पर भी जैसे वह लोक भरता नहीं, उसे क्या तू जानता है? श्वेतकेतु ने कहा— नहीं। राजा ने पूछा— कितने बार की आहुति के हवन करने पर जल पुरुष संज्ञा को प्राप्त हो उठकर बोलने लगता है क्या तू जानता है? श्वेतकेतु ने कहा— नहीं। राजा ने पूछा— देवयान मार्ग के कर्म रूप साधन या पितृयान मार्ग के कर्म रूप साधन को क्या तू जानता है, जिसे अनुष्ठान कर जीव देवयान या पितृयान को प्राप्त हो जाते हैं? यह वचन सुन रखा है अर्थात् पितरों के और देवों के दो मार्ग

यद्येवं, **वेत्थ** विजानासि किं **यथा** येन प्रकारे**णेमाः प्रजाः** प्रसिद्धाः **प्रयत्यो** म्रियमाणा **विप्रतिपद्यन्ता३ इति** विप्रतिपद्यन्ते विचारणार्था प्लुतिः। समानेन मार्गेण गच्छन्तीनां मार्गद्वैविध्यं यत्र भवति तत्र काचित्प्रजा अन्येन मार्गेण गच्छन्ति काचिदन्येनेति विप्रतिपत्तिः। यथा ताः प्रजा विप्रतिपद्यन्ते तत्किं वेत्थेत्यर्थः। **नेति होवाचे**तरः। तर्हि **वेत्थ उ यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति** पुनरापद्यन्ते, यथा पुनरागच्छन्तीमं लोकम्। **नेति हैवोवाच** श्वेतकेतुः। **वेत्थो**

वाऽपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति होवाच॥२॥

हमने सुने हैं, जो ये दोनों ही मनुष्य से संबन्ध रखने वाले हैं। इन दोनों मार्गों से जाने वाले लोग भली प्रकार से जाते हैं और ये द्युलोक और पृथिवी के मध्य में हैं, जिन्हें माता-पिता भी कहते हैं। इस पर श्वेतकेतु ने कहा— मैं इन प्रश्न समुदाय में से एक भी नहीं जानता, मुझे किसी का पता नहीं॥२॥

यथाऽसौ लोक एवं प्रसिद्धेन न्यायेन **पुनः पुनरसकृत्प्रयद्भिर्म्रियमाणैर्यथा** येन प्रकारेण **न संपूर्यता३ इति न** संपूर्यतेऽसौ लोकस्तत्किं वेत्थ। **नेति हैवोवाच। वेत्थो यतिथ्यां** यत्संख्याकायामा**हुत्या**माहुतौ हुतायामापः **पुरुषवाचः** पुरुषस्य या वाक्सैव यासां वाक्ताः **पुरुषवाचो भूत्वा** पुरुषशब्दवाच्या भूत्वा। यदा पुरुषाकारपरिणतास्तदा पुरुषवाचो भवन्ति। **समुत्थाय** सम्यगुत्थायोद्भूताः सत्यो **वदन्ती३ इति। नेति हैवोवाच।** यद्येवं **वेत्थ उ देवयानस्य पथो** मार्गस्य **प्रतिपदं** प्रतिपद्यते, येन सा प्रतिपत्तां **प्रतिपदं पितृयाणस्य वा** प्रतिपदं प्रतिपच्छब्दवाच्यमर्थमाह। **यत्कर्म कृत्वा** यथाविशिष्टं कर्म कृत्वेत्यर्थः। **देवयानं वा पन्थानं** मार्गं **प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा** यत्कर्म कृत्वा प्रतिपद्यन्ते, तत्कर्म प्रतिपदुच्यते तां प्रतिपदं किं वेत्थ, देवलोकपितृलोकप्रतिपत्तिसाधनं किं वेत्थेत्यर्थः।

अप्यत्रास्यार्थस्य प्रकाशक**मृषेर्म**न्त्रस्य **वचो** वाक्यं **नः श्रुतमस्ति।** मन्त्रोऽप्यस्यार्थस्य प्रकाशको विद्यत इत्यर्थः। कोऽसौ मन्त्र इति। उच्यते—**द्वे सृती** द्वौ मार्गा**वशृणवं** श्रुतवानस्मि तयोरेका **पितॄणां** प्रापिका पितृलोकसंबद्धा तया सृत्या पितृलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः। **अहम**शृणवमिति व्यवहितेन संबन्धः। **देवा-**

राजा के आतिथ्य को अनादर कर श्वेतकेतु का पिता के पास आकर उलाहना देना-

अथैनं वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तꣳहोवाचेति वाव किल नो भवान्पुराऽनुशिष्टानवोच इति कथꣳसुमेध इति पञ्च-मा प्रश्नान्राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकञ्चन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार॥३॥

इसके बाद राजा ने श्वेतकेतु से विनयपूर्वक ठहरने के लिये प्रार्थना की, किन्तु वह कुमार उस निवास का अनादर कर अपने पिता के पास चला गया। वह अपने पिता के पास आया और अपने पिता से उसने समावर्तन संस्कार के समय की बात याद दिलायी। आपने समावर्तन के समय यही कहा था कि सभी विषयों की शिक्षा तुम्हें देदी गयी है। आरुणि ने पुत्र का उलाहना सुन कर कहा— हे सुन्दर धारणा वाले! तुम्हें इस प्रकार दुःख कैसे हुआ। पुत्र ने कहा—मुझ से एक क्षत्रियबन्धु ने पाँच प्रश्न पूछे, पर मैं तो उनमें से एक को नहीं जानता। पिता ने कहा— वे प्रश्न कौन से हैं। उसने कहा— ये प्रश्न थे, ऐसा कह कर श्वेतकेतु ने राजा से पूछे गये प्रश्नों के संकेत बतलाए॥३॥

नामुतापि देवानां संबन्धिन्यन्या देवान्प्रापयति सा। के पुनरुभाभ्यां सृतिभ्यां पितॄन्देवांश्च गच्छन्तीति। उच्यते—**उता**पि **मर्त्यानां** मनुष्याणां संबन्धिन्यौ। मनुष्या एव हि सृतिभ्यां गच्छन्तीत्यर्थः। **ताभ्यां** सृतिभ्या**मिदं विश्वं** समस्त**मेजद्**गच्छ-**त्समेति** संगच्छते। ते च द्वे सृती यदन्तरा ययोरन्तरा **यदन्तरा पितरं मातरं च** मातापित्रोरन्तरा मध्य इत्यर्थः। कौ तौ मातापितरौ? द्यावापृथिव्यावण्डकपाले। इयं वै माताऽसौ पितेति हि व्याख्यातं ब्राह्मणेन। अण्डकपालयोर्मध्ये संसारविषये एवैते सृती, नाऽऽत्यन्तिकामृतत्वगमनाय। इतर आह—**नाहमतो**ऽस्मात्प्रश्न-समुदाया**देकंचनैक**मपि प्रश्नं न **वेद** नाहं **वेदेति होवाच** श्वेतकेतुः॥२॥

अथानन्तरमपनीय विद्याभिमानगर्व**मेनं** प्रकृतं श्वेतकेतुं **वसत्या** वसति-प्रयोजने**नोपमन्त्रयाञ्चक्रे**। इह वसन्तु भवन्तः पाद्यमर्घ्यं चाऽऽनीयतामित्यु-

(उक्त विषय में अनभिज्ञ आरुणि का प्रवाहण के पास आना)

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमा-

(क्रुद्ध पुत्र को शान्त करने के लिये) उस पिता ने कहा— हे वत्स! तू हमसे इतना निश्चित जान कि जो कुछ मैं जानता था, वह सब तुझ से मैंने कह दिया था (राजा के इन प्रश्नों को तो मैं भी नहीं जानता अतः) अब चल, हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्यपूर्वक उसके यहाँ निवास करें। पुत्र ने कहा— आप ही जाएँ (मैं तो उसका मुख भी देखना नहीं चाहता) तब वह गौतम जैवलि, प्रवाहण की जहाँ बैठक थी, वहाँ

पमन्त्रणं कृतवान्राजा। **अनादृत्य** तां **वसतिं कुमारः** श्वेतकेतुः **प्रदुद्राव** प्रतिगतवान्पितरं प्रति। **स चाऽऽजगाम पितरमा**गत्य **चोवाच, तं कथमिति वाव किलैवं** किल **नोऽस्मान्भवान्पुरा** समावर्तनकालेऽ**नुशिष्टा**-न्सर्वाभिर्विद्याभि**रवोचोऽ**वोच**दिति**। सोपालम्भं पुत्रस्य वचः श्रुत्वाऽऽह पिता। **कथं** केन प्रकारेण तव दुःखमुपजातं हे **सुमेधः** शोभना मेधा यस्येति सुमेधाः। शृणु मम यथा वृत्तं **पञ्च** पञ्चसंख्याका**न्प्रश्नान्मा** मां **राजन्यबन्धू** राजन्या बन्धवो यस्येति। परिभववचनमेतद्राजन्यबन्धुरिति। **अप्राक्षीत्**पृष्टवां**स्ततस्त**-**स्मान्नैकंचनैक**मपि न **वेद** न विज्ञातवानस्मि। **कतमे ते** राज्ञा पृष्टाः प्रश्ना **इति** पित्रोक्तः पुत्र **इमे त इति ह प्रतीकानि** मुखानि प्रश्नाना**मुदाजहारो**-दाहृतवान्॥३॥

स होवाच पिता पुत्रं क्रुद्धमुपशमयं**स्तथा** तेन प्रकारेण **नोऽ**स्मां**स्त्वं** हे **तात** वत्स! **जानीथा** गृह्णीथा, **यथा यदहं किंच** विज्ञानजातं **वेद सर्वं तत्तुभ्यमवोच**मित्येव जानीथाः। कोऽन्यो मम प्रियतरोऽस्ति त्वत्तो, यदर्थं रक्षिष्ये! अहमप्येतन्न जानामि यद्राज्ञा पृष्टम्। तस्मा**त्प्रेह्या**गच्छ **तत्र प्रतीत्य** गत्वा राज्ञि

हृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तꣳ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति॥४॥

(कुमार से पूछे हुए प्रश्न के उत्तर के लिये आरुणि की प्रार्थना)

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति॥५॥

(देववर को छोड़कर मानुष वर माँगने के लिये प्रवाहण का कहना)

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति॥६॥

आया। राजा ने उस आरुणि के लिए उचित आसन देकर सेवकों से जल मँगवाया और पुरोहित द्वारा मन्त्र पूर्वक उसे अर्घ्यदान किया। फिर राजा ने कहा— मैं भगवान् गौतम को वर देता हूँ॥४॥

उस गौतम ने कहा— आपने मुझे वर देने के लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसके बदले में मैं यही चाहता हूँ कि मेरे पुत्र के समीप प्रश्न रूप में जो बात आपने कही थी, वही मुझ से कहिये॥५॥

उस राजा ने कहा— हे गौतम! वह वर तो देव संबन्धी वरों में से है, तुम मानुष वरों में से कोई वर माँगो॥६॥

ब्रह्मचर्यं वत्स्यावो विद्यार्थ**मिति**। स आह **भवानेव गच्छत्विति** नाहं तस्य मुखं निरीक्षितुमुत्सहे। **स आजगाम गौतमो** गोत्रतो गौतम आरुणि**र्यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरासा**ऽऽसनमास्थायिका षष्ठी वा प्रथमार्थे **तस्मै** गौतमायाऽऽगतायाऽऽ**सनमनुरूपमाहृत्योदकं** भृत्यै**राहारयांचकार**। **अथ हास्मा अर्घं** पुरोधसा कृतवान्मन्त्रवन्मधुपर्कं च। कृत्वा चैवं पूजां **तं होवाच वरं भगवते गौतमाय** तुभ्यं **दद्म इति** गोअश्वादिलक्षणम्॥४॥

स होवाच गौतमः **प्रतिज्ञातो मे** ममैष **वरस्त्वया**ऽस्यां प्रतिज्ञायां दृढीकुर्वात्मानं **यां तु** वाचं **कुमारस्य** मम पुत्रस्या**न्ते** समीपे **वाचमभाषथाः** प्रश्नरूपां **तामेव मे ब्रूहि** स एव नो वर **इति**॥५॥

स होवाच राजा **दैवेषु वरेषु तद्वै गौतम** यत्त्वं प्रार्थयसे **मानुषाणामन्यतमं** प्रार्थय वरम्॥६॥

वाङ्मात्र से प्रवाहण का शिष्यत्व स्वीकार करना

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गो- प्राप्तं अश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मानो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास॥७॥

उस गौतम ने कहा— आप जानते ही हैं, वह मनुष्य संबन्धी स्वर्णादि वर तो मेरे पास भी है, मुझे सुवर्ण, गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्रादि परिधान भी प्राप्त हैं। आप अनन्त और निस्सीम धन के दाता होकर भी केवल मेरे लिए अदाता न हों। राजा ने कहा— हे गौतम! शास्त्रोक्त विधि से उस विद्या को प्राप्त करने की इच्छा करो। गौतमं ने कहा— अच्छी बात, मैं आपके प्रति शिष्यभाव से उपसन्न होता हूँ। पहले भी ब्राह्मण लोग आपत्ति काल में विद्या प्राप्ति के लिए क्षत्रियादि के प्रति जाते रहें हैं, सेवा पूर्वक नहीं। इस प्रकार उपसत्ति का वाणीमात्र से कथन करके गौतम वहाँ रहने लगे॥७॥

स होवाच च गौतमो भवताऽपि **विज्ञायते ह ममास्ति** सः। न तेन प्रार्थितेन कृत्यं मम, यं त्वं दित्ससि मानुषं वरम्। यस्मान्ममाप्यस्ति **हिरण्यस्य** प्रभूतस्या**पात्तं** प्राप्तं **गोअश्वानाम**पात्तमस्तीति सर्वत्रानुषङ्गो **दासीनां प्रवाराणां** परिवाराणां **परिधानस्य** च। न च यन्मम विद्यमानं तत्त्वत्तः प्रार्थनीयं, त्वया वा देयम्। प्रतिज्ञातश्च वरस्त्वया, त्वमेव जानीषे यदत्र युक्तं प्रतिज्ञा रक्षणीया तवेति। मम पुनरयमभिप्रायो मा भू**न्नोऽ**स्मानभ्यस्मानेव केवलान्प्रति **भवान्**सर्वत्र वदान्यो भूत्वाऽवदान्यो **मा** भूत्कदर्यो मा भूदित्यर्थः। **बहोः** प्रभूतस्या**नन्तस्या**नन्तफलस्येत्येतत्। **अपर्यन्तस्या**परिसमाप्तिकस्य पुत्रपौत्रादिगामिकस्येत्येतत्। ईदृशस्य वित्तस्य मां प्रत्येव केवलमदाता मा भूद्भवान्। न चान्यत्रादेयमस्ति भवतः। एवमुक्त आह— **स** त्वं **वै** हे **गौतम तीर्थेन** न्यायेन शास्त्रविहितेन विद्यां मत्त **इच्छासा** इच्छस्वाऽऽप्तुमित्युक्तो गौतम आह— **उपैम्यु**पगच्छामि शिष्यत्वे**नाहं भवन्तमिति**। **वाचा ह स्मैव** किल **पूर्वे**

स्त्री जनासंकीर्ण स्थलं = अरण्यम्.

गौतम के प्रति प्रवाहण की क्षमा प्रार्थना और विद्यादान.

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥८॥

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च "महाभाष्य"

उसे दुःखी समझकर उस राजा ने कहा— हे गौतम! हमारे अपराध को आप वैसे ही न मानें, जैसे आपके पितामहादि पूर्वजों ने हमारे पितामहों का अपराध नहीं माना था। इसके पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही (इसे आप जानते भी हो, यह विद्या सदा क्षत्रिय परम्परा से आई है)। अब उसे मैं तुमसे कहता हूँ, क्योंकि इस प्रकार विनयपूर्वक बोलने वाले तुम्हें निषेध करने में कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् योग्य अधिकारी के प्रति विद्या संप्रदान उचित ही है॥८॥

ब्राह्मणाः क्षत्रियान्विद्यार्थिनः सन्तो वैश्यान्वा क्षत्रिया वा वैश्यानापद्यु**पयन्ति** शिष्यवृत्त्या ह्युपगच्छन्ति नोपायनशुश्रूषादिभिः। अतः **स** गौतमो **होपायनकीर्त्यो**पगमनकीर्तनमात्रेणै**वोवासो**षितवान्नोपायनं चकार॥७॥

एवं गौतमेनाऽऽपदन्तरे उक्ते **स होवाच** राजा पीडितं मत्वा क्षामयं**स्तथा नो**ऽस्मान्प्रति माऽस्मान्प्रति **माऽपराधा** अपराधं मा कार्षीरस्मदीयोऽपराधो न ग्रहीतव्य इत्यर्थः। **तव च पितामहा** अस्मत्पितामहेषु यथाऽपराधं न जगृहुस्तथा पितामहानां वृत्तमस्मास्वपि भवता रक्षणीयमित्यर्थः। **यथेयं विद्या** त्वया प्रार्थि**तेत**-स्त्वत्संप्रदाना**त्पूर्वं** प्राङ्**न कस्मिन्नपि ब्राह्मण उवासो**शितवती, तथा त्वमपि जानीषे सर्वदा क्षत्रियपरम्परयेयं विद्याऽऽगता, सा स्थितिर्मयाऽपि रक्षणीया यदि रक्षितुं शक्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं, दैवेषु गौतम तद्वरेषु, मानुषाणां ब्रूहीति न पुनस्तवादेयो वर इतीतः परं न शक्यते रक्षितुम्। **तामपि** विद्या**महं तुभ्यं वक्ष्यामि। को** ह्यन्योऽपि हि यस्मा**देवं ब्रुवन्तं** त्वा**मर्हति प्रत्याख्यातुं** न वक्ष्या**मीति**। अहं पुनः कथं न वक्ष्ये तुभ्यमिति॥८॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्याऽऽदित्य एव समिद्र-श्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फु-लिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति॥९॥

हे गौतम! यह द्युलोक ही अग्नि है (अग्नि न होने पर भी स्त्री और पुरुष के समान द्युलोक में अग्नि दृष्टि का विधान किया गया है)। आदित्य ही उसका ईंधन है, क्योंकि आदित्य से उसका उद्दीपन होता है। किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, उपशम में समानता होने से दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा विस्फुलिङ्गों के समान बिखरी हुई होने के कारण अवान्तर दिशाएँ चिंगारियाँ हैं। ऐसे गुणों से युक्त इस द्युलोक रूप अग्नि में इन्द्रादि देव श्रद्धा का हवन करते हैं। उस आहुति से पितरों और ब्राह्मणों का राजा सोम उत्पन्न होता है॥९॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतमेत्यादिचतुर्थः प्रश्नः प्राथम्येन निर्णीयते। क्रमभङ्गस्त्वेतन्निर्णयायत्तत्वादितरप्रश्ननिर्णयस्य। **असौ द्यौर्लोकोऽग्निर्हे गौतम** द्युलोकेऽग्निदृष्टिरनग्नौ विधीयते यथा योषित्पुरुषयो**स्तस्य** द्युलोकाग्ने-**रादित्य एव समित्**समिन्धनात्। आदित्येन हि समिध्यतेऽसौ लोकः। **रश्मयो धूमः** समिध उत्थानसामान्यात्। आदित्याद्धि रश्मयो निर्गताः। समिधश्च धूमो लोक उत्तिष्ठति। **अहरर्चिः** प्रकाशसामान्यात्। **दिशोऽङ्गारा** उपशमसामान्यात्। **अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गा** विस्फुलिङ्गवद्विक्षेपात्। **तस्मिन्नेतस्मि-न्ने**वंगुणविशिष्टे द्युलोका**ग्नौ देवा** इन्द्रादयः **श्रद्धां जुह्वत्या**हुतिद्रव्यस्थनीयां प्रक्षिपन्ति। **तस्या आहुत्या** आहुतेः **सोमो राजा** पितॄणां ब्राह्मणानां च **संभवति**। तत्र के देवाः कथं जुह्वति किं वा श्रद्धाख्यं हविरित्यत उक्तमस्माभिः संबन्धे। नत्वेवैनयोस्त्वमुत्क्रान्तिमित्यादिपदार्थषट्कनिर्णयार्थमग्निहोत्र उक्तम्। ते वा एते अग्निहोत्राहुती हुते सत्यावुत्क्रामतः। ते अन्तरिक्षमाविशतः। ते अन्तरिक्षमाहवनीयं कुर्वाते वायुं समिधं मरीचीरेव शुक्रामाहुतिम्। ते अन्तरिक्षं तर्पयतः। ते तत

उत्क्रामतः ते दिवमाविशतः। ते दिवमाहवनीयं कुर्वाते आदित्यं समिधमित्येवमाद्युक्तम्।

तत्राग्निहोत्राहुती ससाधने एवोत्क्रामतः। यथेह यैः साधनैर्विशिष्टे ये ज्ञायेते आहवनीयाग्निसमिद्धूमाङ्गारविस्फुलिङ्गाहुतिद्रव्यैस्ते तथैवोत्क्रामतोऽस्माल्लोकादमुं लोकम्। तत्राग्निरग्नित्वेन समित्समित्त्वेन धूमो धूमत्वेनाङ्गारा अङ्गारत्वेन विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गत्वेनाऽऽहुतिद्रव्यमपि पयआद्याहुतिद्रव्यत्वेनैव सर्गादावव्याकृतावस्थायामपि परेण सूक्ष्मेणाऽऽत्मना व्यवतिष्ठते। तद्विद्यमानत्वमेव ससाधनमग्निहोत्रलक्षणं कर्मापूर्वेणाऽऽत्मना व्यवस्थितं सत्तत्पुनर्व्याकरणकाले तथैवान्तरिक्षादीनामाहवनीयाद्यग्न्यादिभावं कुर्वद्विपरिणमते। तथैवेदानीमप्यग्निहोत्राख्यं कर्म।

एवमग्निहोत्राहुत्यपूर्वविपरिणामात्मकं जगत्सर्वमित्याहुत्योरेव स्तुत्यर्थत्वेनोत्क्रान्त्याद्या लोकं प्रत्युत्थायितान्ताः षट् पदार्थाः कर्मप्रकरणेऽधस्तान्निर्णीताः। इह तु कर्तुः कर्मविपाकविवक्षायां द्युलोकाग्न्याद्यारभ्य पञ्चाग्निदर्शनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विशिष्टकर्मफलोपभोगाय विधित्सितमिति द्युलोकाग्न्यादिदर्शनं प्रस्तूयते। तत्र य आध्यात्मिकाः प्राणा इहाग्निहोत्रस्य होतारस्त एवाऽऽधिदैविकत्वेन परिणताः सन्त इन्द्रादयो भवन्ति, त एव तत्र होतारो द्युलोकाग्नौ। ते चेहाग्निहोत्रस्य फलभोगायाग्निहोत्रं हुतवन्तः। त एव फलपरिणामकालेऽपि तत्फलभोक्तृत्वात्तत्र तत्र होतृत्वं प्रतिपद्यन्ते, तथा तथा विपरिणममाना देवशब्दवाच्याः सन्तः। अत्र च यत्पयोद्रव्यमग्निहोत्रकर्माश्रयभूतमिहाऽऽहवनीये प्रक्षिप्तमग्निना भक्षितमदृष्टेन सूक्ष्मेण रूपेण विपरिणतं सह कर्त्रा यजमानेनामुं लोकं धूमादिक्रमेणान्तरिक्षमन्तरिक्षाद्द्युलोकमाविशति। ताः सूक्ष्मा आप आहुतिकार्यभूता अग्निहोत्रसमवायिन्यः कर्तृसहिताः श्रद्धाशब्दवाच्याः सोमलोके कर्तुः शरीरारम्भाय द्युलोकं प्रविशन्त्यो हूयन्त इत्युच्यन्ते। तास्तत्र द्युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुः शरीरमारभन्ते। तदेतदुच्यते "देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवतीति"। "श्रद्धा वा आपः" इति श्रुतेः।

पर्जन्य रूप अग्नि का वर्णन

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिद-भ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फु-लिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति॥१०॥

हे गौतम! मेघ ही अग्नि है, संवत्सर ही उसका ईंधन है, क्योंकि संवत्सर के द्वारा ही मेघरूप अग्नि प्रदीप्त होता है। बादल धूम है, बिजली ज्वाला है, इन्द्र का वज्र अङ्गार है, मेघगर्जन चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण सोमराज को हवन करते हैं। उस सोम की आहुति से वर्षा होती है॥१०॥

वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति प्रश्नस्तस्य च निर्णयविषयेऽसौ वै लोकोऽग्निरिति प्रस्तुतम्। तस्मादापः कर्मसम-वायिन्यः कर्तुः शरीरारम्भिकाः श्रद्धाशब्दवाच्या इति निश्चीयते। भूयस्त्वादापः पुरुषवाच इति व्यपदेशो न त्वितराणि भूतानि न सन्तीति कर्मप्रयुक्तश्च शरीरारम्भः। कर्म चाप्समवायि। ततश्चापां प्राधान्यं शरीरकर्तृत्वे। तेन चाऽऽपः पुरुषवाच इति व्यपदेशः। कर्मकृतो हि जन्मारम्भः सर्वत्र। तत्र यद्यप्यग्निहोत्राहुतिस्तुतिद्वारेणोत-क्रान्त्यादयः प्रस्तुताः षट्पदार्था अग्निहोत्रे, तथाऽपि वैदिकानि सर्वाण्येव कर्माण्यग्निहोत्रप्रभृतीनि लक्ष्यन्ते। दाराग्निसंबद्धं हि पाङ्क्तं कर्म प्रस्तुत्योक्तम्—"कर्मणा पितृलोकः" इति। वक्ष्यति च—"अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्ज-यन्ति" इति॥९॥

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम द्वितीय आहुत्याधार आहुत्योरावृत्तिक्रमेण। पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवतात्मा। **तस्य संवत्सर एव समित्**। संवत्सरेण हि शरदादिभिर्ग्रीष्मान्तैः स्वावयवैर्विपरिवर्तमानेन पर्जन्योऽग्निर्दीप्यते। **अभ्राणि धूमः**। धूमप्रभवत्वाद्धूमवदुपलक्ष्यत्वाद्वा **विद्युदर्चिः**। प्रकाशसामान्यात्। **अशनिरङ्गाराः**। उपशान्तत्वकाठिन्यसामान्याभ्याम्। **ह्रादुनयो** ह्रादुनयः

यह लोकरूप अग्नि का वर्णन.

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्नि-र्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फु-लिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ संभवति॥११॥

हे गौतम! यह लोक ही अग्नि है, पृथिवी इसका ईंधन है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण वर्षा का हवन करते हैं। उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है। (समिधा के संबन्ध से ज्वाला और धूम उत्पन्न होता है)। अतः पार्थिव द्रव्यरूप ईंधन से अग्निरूप धूम की छायारूप रात्रि (अन्धकार) उत्पन्न होता है। अङ्गारे के समान होने से चन्द्रमा को अङ्गार कह दिया गया है॥११॥

स्तनयित्नुशब्दा **विस्फुलिङ्गाः**। विक्षेपानेकत्वसामान्यात्। **तस्मिन्नेतस्मिन्नि**-त्याहुत्यधिकरणनिर्देशः। देवा इति त एव होतारः सोमं राजानं जुह्वति। योऽसौ द्युलोकाग्नौ श्रद्धायां हुतायामभिनिर्वृत्तः सोमः, स द्वितीये पर्जन्याग्नौ हूयते। **तस्याश्च** सोमाहुतेर्**वृष्टिः संभवति**॥१०॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम। अयं लोक इति प्राणिजन्मोपभोगाश्रयः क्रियाकारकफलविशिष्टः स तृतीयोऽग्निः। **तस्याग्नेः पृथिव्येव समित्**। पृथिव्या ह्ययं लोकोऽनेकप्राण्युपभोगसंपन्नया समिध्यते। **अग्निर्धूमः**। पृथिव्या-श्रयोत्थानसामान्यात्। पार्थिवं हीन्धनद्रव्यमाश्रित्याग्निरुत्तिष्ठति। यथा समिदाश्रयेण धूमः। **रात्रिरर्चिः**। समित्संबन्धप्रभवसामान्यात्। अग्नेः समित्संबन्धेन ह्यर्चिः संभवति। तथा पृथिवीसमित्संबन्धेन शर्वरी। पृथिवीछायां हि शार्वरं तम आचक्षते। **चन्द्रमा अङ्गाराः**। तत्प्रभवत्वसामान्यात्। अर्चिषो ह्यङ्गाराः प्रभवन्ति तथा रात्रौ चन्द्रमा उपशान्तत्वसामान्याद्वा। **नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः**। विस्फुलिङ्गवद्विक्षेपसामान्यात्। **तस्मिन्नेतस्मिन्नि**त्यादि पूर्ववत्। **वृष्टिं जुह्वति तस्या** आहुते**रन्नं संभवति** वृष्टिप्रभवत्वस्य प्रसिद्धत्वाद्व्रीहियवादेरन्नस्य॥११॥

(पुरुषाग्नि का वर्णन)

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गारा श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति॥१२॥

(स्त्री रूप अग्नि का वर्णन)

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तःकरोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा

हे गौतम! (हस्तपादादि अवयवों वाला) प्रसिद्ध पुरुष ही अग्नि है, उसका खुला हुआ मुख ही समिधा है, प्राण धूम है, वाणी ज्वाला है, (क्योंकि ज्वाला के समान वाणी से ही वस्तु का प्रकाश होता है) नेत्र अङ्गार हैं और श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। इस पुरुषाग्नि में देवगण अन्न का हवन करते हैं। उस आहुति से अन्न का परिणाम वीर्य उत्पन्न होता है॥१२॥

हे गौतम! स्त्री ही होमाधिकरण रूप अग्नि है। उपस्थ ही उसकी समिधा है, योनि ज्वाला है और जो मैथुन व्यापार करता है, वह अङ्गार है, आनन्दलेश चिनगारियाँ हैं। इस

पुरुषो वा अग्निर्गौतम। प्रसिद्धः शिरःपाण्यादिमान्पुरुषश्चतुर्थोऽग्निस्तस्य **व्यात्तं** विवृतं मुखं **समित्।** विवृतेन हि मुखेन दीप्यते पुरुषो वचनस्वाध्यायादौ। यथा समिधाऽग्निः। **प्राणो धूमस्**तदुत्थानसामान्यात्। मुखाद्धि प्राण उत्तिष्ठति। **वाक्**शब्दो**ऽर्चि**र्व्यञ्जकत्वसामान्यात्। अर्चिश्च व्यञ्जकम्। तथा **वाक्**शब्दोऽभिधेयव्यञ्जकः। चक्षुरंगारा उपशमसामान्यात्प्रकाशाश्रयत्वाद्वा। **श्रोत्रं विस्फुलिङ्गा** विक्षेपसामान्यात्। **तस्मिन्नन्नं जुह्वति।** ननु नैव देवा अन्नमिह जुह्वतो दृश्यन्ते। नैष दोषः। प्राणानां देवत्वोपपत्तेः। अधिदैवमिन्द्रादयो देवास्त एवाध्यात्मं प्राणास्ते चान्नस्य पुरुषे प्रक्षेप्तारः। **तस्या** आहुते **रेतः संभवति।** अन्नपरिणामो हि रेतः॥१२॥

योषा वा अग्निर्गौतम। योषेति स्त्री पञ्चमो होमाधिकरणोऽग्नि-

विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीव-त्यथ यदा म्रियते ॥१३॥ अन्त्येष्टि संस्कार रूप अन्तिम आहुति

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा
लोक प्रसिद्ध अनुवाद मात्र पञ्चाग्नि यहाँ। छान्दोग्य में नहीं

योषाग्नि में देवगण वीर्य का हवन करते हैं। उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है, वह पुरुष (तब तक) जीवित रहता है; जब तक उसके प्रारब्ध क्षीण नहीं होते। प्रारब्ध क्षीण होने पर वह मर जाता है॥१३॥

तब इस मृत पुरुष को अग्नि के लिए ऋत्विक्गण ले जाते हैं। उस पुरुष का प्रसिद्ध अग्नि ही होमाधिकरण अग्नि होता है, कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिधा ही समिधा होती है, धूम-धूम होता है, ज्वाला-ज्वाला होती है, अङ्गारे-अङ्गारे होते हैं। प्रसिद्ध

स्तस्या उपस्थ एव समित्। तेन हि सा समिध्यते। **लोमानि धूमस्**तदुत्था-नसामान्यात्। योनिरर्चिर्वर्णसामान्यात्। **यदन्तः करोति तेऽङ्गारा** अन्तःकरणं मैथुनव्यापार**स्तेऽङ्गारा** वीर्योपशमहेतुत्वसामान्यात्। वीर्याद्युपशमकारणं मैथुनम्। तथाऽङ्गारभावोऽग्नेरुपशमकारणम्। **अभिनन्दाः** सुखलवाः क्षुद्रत्वसामान्या-**द्विस्फुलिङ्गाः**। **तस्मिन्रेतो जुह्वति**। **तस्या आहुतेः पुरुषः संभवति**। एवं द्युपर्जन्यायंलोकपुरुषयोषाग्निषु क्रमेण हूयमानाः श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोभावेन स्थूलतारतम्यक्रममापद्यमानाः श्रद्धाशब्दवाच्या आपः पुरुषशब्दवाच्यं शरीरमारभन्ते। यः प्रश्नश्चतुर्थो वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति स एष निर्णीतः। पञ्चम्यामाहुतौ योषाग्नौ हुतायां रेतोभूता आपः पुरुषवाचो भवन्तीति। **स** पुरुष एवं क्रमेण जातो **जीवति**। कियन्तं कालमिति? उच्यते—**यावज्जीवति** यावदस्मिञ्छरीरे स्थितिनिमित्तं कर्म विद्यते तावदि-त्यर्थः। **अथ** तत्क्षये **यदा** यस्मिन्काले **म्रियते**॥१३॥

अथ तदैनं मृत**मग्नये**ऽग्न्यर्थमेवान्त्याहुत्यै **हरन्ति** ऋत्विज**स्त-**

विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति॥१४॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युता-

विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। अर्थात् पूर्व के जैसे उक्त सभी कल्पित नहीं होते। उस इस अग्नि में देवगण पुरुषरूप अन्तिम आहुति का हवन करते हैं। आहुति से (गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कार से सम्पन्न हो जाने के कारण) पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है॥१४॥

वे जो (गृहस्थ इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से) इस पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं और जो संन्यासी या वानप्रस्थी श्रद्धा युक्त हो वन में हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे सभी ज्योति के अभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देव से दिन अभिमानी देव को, दिन के अभिमानी देव से शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव को, शुक्ल पक्ष के

स्याऽऽहुतिभूतस्य प्रसिद्धोऽ**ग्निरेव** होमाधिकरणं, न परिकल्प्योऽ**ग्निः**। प्रसिद्धैव **समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गा** यथाप्रसिद्धमेव सर्वमित्यर्थः। तस्मिन्पुरुषमन्त्याहुतिं जुह्वति **तस्या आहुत्या** आहुतेः **पुरुषो भास्वरवर्णो**ऽतिशयदीप्तिमान्निषेकादिभिरन्त्याहुत्यन्तैः कर्मभिः संस्कृतत्वात्**संभवति** निष्पद्यते॥१४॥

इदानीं प्रथमप्रश्ननिराकरणार्थमाह—**ते**। के? **य एवं** यथोक्तं पञ्चाग्निदर्शन**मेतद्विदुः**।एवंशब्दादग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गश्रद्धाविशिष्टाः पञ्चाग्नयो निर्दिष्टास्तानेवैतान्पञ्चाग्नीन्विदुरित्यर्थः। नन्वग्निहोत्राहुतिदर्शनविषयमेवैतद्दर्शनम्। तत्र ह्युक्तमुत्क्रान्त्यादिपदार्थषट्कनिर्णये दिवमेवाऽऽहवनीयं कुर्वाते इत्यादि।

न्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥१५॥

अभिमानी देव से उन उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देव को प्राप्त होते हैं, जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर होकर चलता है। पुनः छः मास के अभिमानी देवों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत् के अभिमानी देवों के पास (ब्रह्मा के द्वारा मन से रचा हुआ ब्रह्मलोकवासी) एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है। वे लोग उन ब्रह्मलोकों में अनेक वर्षों तक रहते हैं, उनका पुनरागमन नहीं होता है॥१५॥

इहाप्यमुष्य लोकस्याग्नित्वमादित्यस्य च समित्त्वमित्यादि बहु साम्यम्। तस्मात्तच्छेषमेवैतद्दर्शनमिति? न, यतिथ्यामितिप्रश्नप्रतिवचनापरिग्रहात्। यतिथ्यामित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनस्य च यावदेव परिग्रहस्तावदेवैवंशब्देन परामृष्टुं युक्तम्। अन्यथा प्रश्नानर्थक्यान्निर्ज्ञाततत्वाच्च संख्याया अग्नय एव वक्तव्याः। अथ निर्ज्ञातमप्यनूद्यते। यथाप्राप्तस्यैवानुवदनं युक्तं न त्वसौ लोकोऽग्निरिति। अथोपलक्षणार्थः। तथाऽप्याद्येनान्त्येन चोपलक्षणं युक्तम्। श्रुत्यन्तराच्च। समाने हि प्रकरणे छान्दोग्यश्रुतौ पञ्चाग्नीन्वेदेति पञ्चसंख्याया एवोपादानादनग्निहोत्रशेषमेतत्पञ्चाग्निदर्शनम्। यत्त्वग्निसमिदादिसामान्यं तदग्निहोत्रस्तुत्यर्थमित्यवोचाम। तस्मान्नोत्क्रान्त्यादिपदार्थषट्कपरिज्ञानादर्चिरादिप्रतिपत्तिः। एवमिति प्रकृतोपादानेनार्चिरादिप्रतिपत्तिविधानात्।

के पुनस्ते य एवं विदुः? गृहस्था एव। ननु तेषां यज्ञादिसाधनेन धूमादिप्रतिपत्तिर्विधित्सिता। न, अनेवंविदामपि गृहस्थानां यज्ञादिसाधनोपपत्तेः। भिक्षुवानप्रस्थयोश्चारण्यसंबन्धेन ग्रहणात्। गृहस्थकर्मसंबद्धत्वाच्च पञ्चाग्निदर्शनस्य। अतो नापि ब्रह्मचारिण एवं विदुरिति गृह्यन्ते। तेषां तूत्तरे पथि प्रवेशः स्मृतिप्रामाण्यात्—

"अष्टाशीतिसहस्राणामृषीणामूर्ध्वरेतसाम्।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे"॥ इति

तस्माद्ये गृहस्था एवमग्निजोऽहमग्न्यपत्यमित्येवं क्रमेणाग्निभ्यो जातोऽग्निरूप इत्येवं ये विदुस्ते च **ये चामी अरण्ये** वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्चारण्यनित्याः **श्रद्धां** श्रद्धायुक्ताः सन्तः **सत्यं** ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मान**मुपासते** न पुनः श्रद्धां चोपासते **ते** सर्वे**ऽर्चिरभिसंभवन्ति**।

यावद्गृहस्थाः पञ्चाग्निविद्यां सत्यं वा ब्रह्म न विदुस्तावच्छ्रद्धाद्याहुतिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां ततो योषाग्नेर्जाताः पुनर्लोकं प्रत्युत्थायिनोऽग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठातारो भवन्ति। तेन कर्मणा धूमादिक्रमेण पुनः पितृलोकं पुनः पर्जन्यादिक्रमेणेममावर्तन्ते। ततः पुनर्योषाग्नेर्जाताः पुनः कर्म कृत्वेत्येवमेव घटीयन्त्रवद्गत्यागतिभ्यां पुनः पुनरावर्तन्ते। यदा त्वेवं विदुस्ततो घटीयन्त्रभ्रमणाद्विनिर्मुक्ताः सन्तोऽर्चिरभिसंभवन्ति। अर्चिरिति नाग्निज्वालामात्रं, किं तर्ह्यर्चिरभिमानिन्यर्चिःशब्दवाच्या देवतोत्तरमार्गलक्षणा व्यवस्थितैव, तामभिसंभवन्ति। न हि परिव्राजकानामग्न्यर्चिषैव साक्षात्संबधोऽस्ति। तेन देवतैव परिगृह्यतेऽर्चिःशब्दवाच्या। अतोऽहर्देवताम्। मरणकालनियमानुपपत्तेरहःशब्दोऽपि देवतैव। आयुषः क्षये हि मरणम्। नह्येवंविदाऽहन्येव मर्तव्यमित्यहर्मरणकालो नियन्तुं शक्यते। न च रात्रौ प्रेताः सन्तोऽहः प्रतीक्षन्ते। ''स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति'' इति श्रुत्यन्तरात्।

अह्न आपूर्यमाणपक्षमहर्देवतयाऽतिवाहिता आपूर्यमाणपक्षदेवतां प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतामित्येतत्। **आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङुत्तरां** दिशम**दित्यः** सवि**तेति** तान्मासान्प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतयाऽतिवाहिताः सन्तः। मासानिति बहुवचनात्संघचारिण्यः षडुत्तरायणदेवतास्तेभ्यो **मासेभ्यः** षण्मासदेवताभिरतिवाहिता देवलोकाभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते। **देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं** विद्युदभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते। विद्युद्देवतां प्राप्तान्ब्रह्मलोकवासी **पुरुषो** ब्रह्मणा मनसा सृष्टो **मानसः** कश्चि**देत्या**ऽऽगत्य **ब्रह्मलोकान्गमयति**। ब्रह्मलोकानित्यधरोत्तरभूमिभेदेन भिन्ना इति गम्यन्ते, बहुवचनप्रयोगात्। उपासनतारतम्योपपत्तेश्च। **ते** तेन पुरुषेण गमिताः सन्त**स्तेषु ब्रह्म-**

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणाऽऽदित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्त

पूर्वोक्त उपासकों से भिन्न जो केवल कर्मी यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं, वे मरने पर धूमाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि के अभिमानी देव को, रात्रि से कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव को, कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव से छः मास के अभिमानी देवों को प्राप्त होते हैं। जिन छः मास में सूर्य दक्षिण की ओर होकर चलता है। छः मास के अभिमानी देव से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। उस चन्द्रमा में पहुँच कर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ पर देवगण इन्हें ऐसे ही भक्षण कर जाते है, जैसे ऋत्विक् लोग "आप्यायस्व अपक्षीयस्व" ऐसा कहकर सोम

लोकेषु पराः प्रकृष्टाः सन्तः स्वयं **परावतः** प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान्**वसन्ति** ब्रह्मणोऽनेकान्कल्पान्वसन्तीत्यर्थः। **तेषां** ब्रह्मलोकं गतानां **नास्ति पुनरावृत्ति**रस्मिन्संसारे "न पुनरागमनमिह" इति शाखान्तरपाठात्। इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति चेच्छ्वोभूते पौर्णमासीमिति यद्वत्। न, इहेतिविशेषणानर्थक्यात्। यदि हि नाऽऽवर्तन्त एवेहग्रहणमनर्थकमेव स्यात्। श्वोभूते पौर्णमासीमित्यत्र पौर्णमास्याः श्वोभूतत्वमनुक्तं न ज्ञायत इति युक्तं विशेषयितुम्। न हि तत्राऽऽकृतिः श्वःशब्दार्थो विद्यत इति श्वःशब्दो निरर्थक एव प्रयुज्यते। यत्र तु विशेषणशब्दे प्रयुक्तेऽन्विष्यमाणे विशेषणफलं चेन्न गम्यते, तत्र युक्तो निरर्थकत्वेनोत्स्रष्टुं विशेषणशब्दो न तु सत्यां विशेषणफलावगतौ। तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वमावृत्तिर्गम्यते॥१५॥

अथ पुनर्ये नैवं विदुरुत्क्रान्त्याद्यग्निहोत्रसंबन्धपदार्थषट्कस्यैव वेदितारः

आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥१६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य
कर्मविभागनाम द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२ ॥

राजा को भक्षण करते हैं और जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब वे इस प्रसिद्ध आकाश को ही प्राप्त हो जाते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को और वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते हैं। पृथिवी को प्राप्त कर वे कर्मी अन्न हो जाते हैं। पुनः वे पुरुष रूप अग्नि में हवन किये जाते हैं, उससे वे लोक के प्रति उत्थान योग्य होकर स्त्री रूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वे बार-बार आते-जाते रहते हैं। पूर्वोक्त दोनों से भिन्न जो इन मार्गों को नहीं जानते; वे कीट, पतङ्ग और डाँसे, मच्छर आदि योनियों को प्राप्त होते हैं (इस प्रकार पुनरावृत्ति रूप दूसरे प्रश्न और उस लोक का न भरना रूप तीसरे प्रश्न का उत्तर हो गया)॥१६॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

केवलकर्मिणो **यज्ञेना**ग्निहोत्रादिना **दानेन** बहिर्वेदि भिक्षमाणेषु द्रव्यसंविभाग-लक्षणेन **तपसा** बहिर्वेद्येव दीक्षादिव्यतिरिक्तेन कृच्छ्रचान्द्रायणादिना **लोका-अयन्ति। लोकानिति** वहुवचनात्तत्रापि फलतारतम्यमभिप्रेतम्। **ते धूममभिसं-भवन्ति।** उत्तरमार्ग इवेहापि देवता एव धूमादिशब्दवाच्याः। धूमदेवतां प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। आतिवाहिकत्वं च देवतानां तद्वदेव। **धूमाद्रात्रिं** रात्रिदेवतां ततो**ऽपक्षी-**

यमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षदेवतां ततो **यान्षण्मासान्दक्षिणां** दिशमा**दित्य एति** तान्मासदेवताविशेषान्प्रतिपद्यन्ते।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रम्। ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्रान्नभूतान्**यथा सोमं राजान**मिह यज्ञ ऋत्विज **आप्यायस्वापक्षीयस्वेति** भक्षयन्त्येव**मेनांश्**चन्द्रं प्राप्तान्कर्मिणो भृत्यानिव स्वामिनो **भक्षयन्त्युप**भुञ्जते देवाः। आप्यायस्वापक्षीयस्वेति न मन्त्रः किं तर्ह्याप्याय्याऽऽप्याय्य चमसस्थं भक्षणेनापक्षयं च कृत्वा पुनः पुनर्भक्षयन्तीत्यर्थः। एवं देवा अपि सोमलोके लब्धशरीरान्कर्मिण उपकरणभूतान्पुनः पुनर्विश्रामयन्तः कर्मानुरूपं फलंप्रयच्छन्तः। तद्धि तेषामाप्यायनं सोमस्याऽऽप्यायनमिवोपभुञ्जत उपकरणभूतान्देवाः। **तेषां** कर्मिणां **यदा** यस्मिन्काले **तद्य**ज्ञदानादिलक्षणं सोम-लोकप्रापकं कर्म **पर्यवैति** परिगच्छति परिक्षीयत इत्यर्थः। **अथ तदेवमेव** प्रसिद्ध**माकाशमभिनिष्पद्यन्ते** यास्ताः श्रद्धाशब्दवाच्या द्युलोकाग्नौ हुता आपः सोमाकारपरिणता, याभिः सोमलोके कर्मिणामुपभोगाय शरीरमारब्धमम्मयं, ताः कर्मक्षयाद्धिमपिण्ड इवाऽऽतपसंपर्कात्प्रविलीयन्ते। प्रविलीनाः सूक्ष्मा आकाशभूता इव भवन्ति। तदिदमुच्यत इममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्त इति।

ते पुनरपि कर्मिणस्तच्छरीराः सन्तः पुरोवातादिना इतश्चामुतश्च नीयन्तेऽन्त-रिक्षगास्तदाह—**आकाशाद्वायुमिति। वायोर्वृष्टिं** प्रतिपद्यन्ते। तदुक्तम्—पर्जन्याग्नौ सोमं राजानं जुह्वतीति। ततो वृष्टिभूता इमां **पृथिवीं** पतन्ति। **ते पृथिवीं प्राप्य** व्रीहियवाद्य**न्नं भवन्ति।** तदुक्तमस्मिँल्लोकेऽग्नौ वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं संभवतीति। **ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते**ऽन्नभूता रेतःसिचि। **ततो** रेतोभूता **योषाग्नौ** हूयन्ते। ततो **जायन्ते। लोकं प्रत्युत्थायिनस्ते** लोकं प्रत्युत्तिष्ठन्तोऽग्निहोत्रादिकर्मानुतिष्ठन्ति। ततो धूमादिना पुनः पुनः सोमलोकं

पुनरिमं लोकमिति। **त एवं कर्मिणोऽनुपरि** वर्तन्ते घटीयन्त्रवच्चक्रीभूता बम्भ्रमतीत्यर्थः। उत्तरमार्गाय सद्योमुक्तये वा यावद्ब्रह्म न विदुः। ''इति नु कामयमानः संसरति''इत्युक्तम्।

अथ पुनर्ये उत्तरं दक्षिणं **चैतौ पन्थानौ न विदुरु**त्तरस्य दक्षिणस्य वा पथः प्रतिपत्तये ज्ञानं कर्म वा नानुतिष्ठन्तीत्यर्थः। ते किं भवन्तीति? उच्यते—**ते कीटाः पतङ्गा यदिदं** यच्चेदं **दन्दशूकं** दंशमशकमित्येतद्भवन्ति। एवं हीयं संसारगतिः कष्टाऽस्यां निमग्नस्य पुनरुद्धार एव दुर्लभः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—''तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व'' इति। तस्मात्सर्वोत्साहेन यथाशक्ति स्वाभाविककर्मज्ञानहानेन दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं शास्त्रीयं कर्म, ज्ञानं वाऽनुतिष्ठेदिति वाक्यार्थः। तथा चोक्तम् ''अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं, तस्माज्जुगुप्सेत'' इति श्रुत्यन्तरान्मोक्षाय प्रयतेतेत्यर्थः। अत्राप्युत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधने एव महान्यत्नः कर्तव्य इति गम्यते। एवमेवानुपरिवर्तन्त इत्युक्तत्वात्। एवं प्रश्नाः सर्वे निर्णीताः। असौ वै लोक इत्यारभ्य पुरुषः संभवतीति चतुर्थः प्रश्नो यतिथ्यामाहुत्यामित्यादिः प्राथम्येन। पञ्चमस्तु द्वितीयत्वेन देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वेति दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनकथनेन। तेनैव च प्रथमोऽप्यग्नेरारभ्य केचिदर्चिः प्रतिपद्यन्ते केचिद्धूममिति विप्रतिपत्तिः। पुनरावृत्तिश्च द्वितीयः प्रश्न आकाशादिक्रमेणेमं लोकमागच्छन्तीति। तेनैवासौ लोको न संपूर्यते कीटपतङ्गादिप्रतिपत्तेश्च केषांचिदिति तृतीयोऽपि प्रश्नो निर्णीतः॥१६॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य कर्मविभागनामकं

द्वितीयं ब्राह्मणम्॥२॥

॥इति पञ्चविंशाह्निकम्॥२५॥

❀❀❀

सद् गृहस्थ - लक्ष्मी उपासना - चञ्चल - नैवेद्य खाना - आदत से लाचार जाने से पहले एक बार दान - कनमॅगुणा - सभी के सलाह से - आप क्यों उदास है - इधर घर में फूट नहीं - मद भेद नहीं - लक्ष्मी कहती है मुझ को बान्धलिया - जिस घर से जाती हूँ पहले यही करती हूँ।

।अथ षष्ठाध्यायस्य श्रीमन्थनाम तृतीयं ब्राह्मणम्।

श्री शोभा शरीर कान्ती। लक्ष्मी।

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयने आपूर्यमाण-पक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परि-लिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्याऽऽवृताऽऽज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ संनीय जुहोति

धन और कर्म का अधिकारी जो ऐसा चाहता है कि मैं महत्त्व को प्राप्त होऊँ तो वह उत्तरायण में शुक्लपक्ष की पुण्यतिथि पर बारह दिन तक पयोव्रती होकर गूलर की लकड़ी के कटोरे या चमस पात्र में सभी औषधियों को, फल तथा अन्य सामग्रियों को एकत्रित कर वेदी को कुशों से बुहार कर गोबर तथा जल से उसे लीपकर अग्नि का संस्थापन करे। पुनः अग्नि के चारों ओर कुशा बिछाकर गृहसूत्र में बतलायी गयी विधि से घृत का संस्कार करके पुँल्लिङ्ग नाम वाले (हस्तादिक) नक्षत्र में मन्थ को (अपने और अग्नि के) बीच में रखकर (निम्नाङ्कित मन्त्र से) हवन करता है। मन्त्रार्थ यह है— हे अग्निदेव! तेरे अधीन जितने देवता वक्र-बुद्धि होकर पुरुष की कामनाओं का विघात

स यः कामयेत। ज्ञानकर्मणोर्गतिरुक्ता। तत्र ज्ञानं स्वतन्त्रं, कर्म तु दैवमानुषवित्तद्वयायत्तं, तेन कर्मार्थं वित्तमुपार्जनीयम्। तच्चाप्रत्यवायकारिणोपायेनेति तदर्थं मन्थाख्यं कर्माऽऽरभ्यते महत्त्वप्राप्तये। महत्त्वे च सत्यर्थसिद्धं हि वित्तम्। तदुच्यते—**स यः कामयेत** स यो वित्तार्थी। कर्मण्यधिकृतो यः कामयेत। किम्? **महन्**महत्त्वं **प्राप्नुयां** महान्स्या**मिती**त्यर्थः। तत्र मन्थकर्मणो विधित्सितस्य कालोऽभिधीयते—**उदगयने** आदित्यस्य तत्र सर्वत्र प्राप्तावा**पूर्यमाणपक्षस्य** शुक्लपक्षस्य। तत्रापि सर्वत्र प्राप्तौ **पुण्याहे**ऽनुकूल आत्मनः कर्मसिद्धिकर इत्यर्थः। **द्वादशाहं** यस्मिन्पुण्येऽनुकूलेऽहनि कर्म चिकीर्षति ततः प्राक्पुण्याहमेवाऽऽरभ्य **द्वादशाहमुपसद्व्रती**। उपसत्सु व्रतमुपसद्व्रतमुपसदः प्रसिद्धा ज्योतिष्टोमे। तत्र

यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳस्वाहा॥१॥

करते हैं, उनके उद्देश्य से इस आज्य भाग का मैं होम करता हूँ। वे देव तृप्त होकर मुझे संपूर्ण भोगों द्वारा तृप्त करें, स्वाहा (स्वाहा शब्द से आहुति दे देवे)। मैं सबकी मृत्यु को धारण करने वाला हूँ, ऐसा समझकर जो वक्र-बुद्धि देव तेरा आश्रय करके रहता है, सभी भोगों को देने वाले उस देव के लिये मैं घृत की धारा से यजन करता हूँ ('स्वाहा' ऐसा कहकर अग्नि में घृत की आहुति दे डाले)॥१॥

च स्तनोपचयापचयद्वारेण पयोभक्षणं तद्व्रतम्। अत्र च तत्कर्मानुपसंहारात्केवलमितिकर्तव्यताशून्यं पयोभक्षणमात्रमुपादीयते। ननूपसद एव व्रतमिति यदा विग्रहस्तदा सर्वमितिकर्तव्यतारूपं ग्राह्यं भवति, तत्कस्मान्न परिगृह्यत इति। उच्यते—स्मार्तत्वात्कर्मणः। स्मार्तं हीदं मन्थकर्म। ननु श्रुतिविहितं सत्कथं स्मार्तं भवितुमर्हति। स्मृत्यनुवादिनी हि श्रुतिरियम्। श्रौतत्वे हि प्रकृतिविकारभावस्ततश्च प्राकृतधर्मग्राहित्वं विकारकर्मणो न त्विह श्रौतत्वम्। अत एव चाऽऽवसथ्याग्नावेतत्कर्म विधीयते। सर्वा चाऽऽवृत्स्मार्तैवेति। **उपसद्व्रती भूत्वा** पयोव्रती सन्नित्यर्थः॥

औदुम्बर उदुम्बरवृक्षमये **कंसे चमसे वा** तस्यैव विशेषणं कंसाकारे चमसाकारे वौदुम्बर एव। आकारे तु विकल्पो नौदुम्बरत्वे। अत्र **सर्वौषधं** सर्वासामोषधीनां समूहं यथासंभवं यथाशक्ति च सर्वा ओषधीः समाहृत्य तत्र ग्राम्यास्तु दश नियमेन ग्राह्या व्रीहियवाद्या वक्ष्यमाणाः। अधिकग्रहणे तु न दोषः ग्राम्याणां **फलानि च** यथासंभवं यथाशक्ति च। **इतिशब्दः** सम्भारोपचयप्रदर्शनार्थः।

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ

"ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र से गृह अग्नि में हवन करके स्रुवा में बचे घृत को पिष्टपिण्ड रूप मन्थ में डाल देता है। "प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है। "वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करे, स्रुवा के बचे हुए घृत को मन्थ मे डाले। "चक्षुषे स्वाहा, संपदे स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके शेष घृत को मन्थ में डाल देता है। "श्रोत्राय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा" इस मन्त्र से होम करके संश्रव को मन्थ में डाल देते हैं। "मनसे स्वाहा, प्रजात्यै स्वाहा" इस मन्त्र से होम

अन्यदपि यत्संभरणीयं तत्सर्वं **संभृत्येत्**यर्थः। क्रमस्तत्र गृह्योक्तो द्रष्टव्यः। **परिसमूहनपरिलेपने** भूमिसंस्कारः। **अग्निमुपसमाधायेति** वचनादावसथ्येऽग्नाविति गम्यते। एकवचनादुपसमाधानश्रवणाच्च। विद्यमानस्यैवोपसमाधानम्। **परिस्तीर्य** दर्भा**नावृता** स्मार्तत्वात्कर्मणः स्थालीपाकावृत्परिगृह्यते तया**ऽऽज्यं संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण** पुंनाम्ना नक्षत्रेण पुण्याहसंयुक्तेन **मन्थं** सर्वौषधफलपिष्टं तत्रौदुम्बरे चमसे दधनि मधुनि घृते चोपसिच्यैकयोपमन्थन्योपसंमथ्य **संनीय** मध्ये संस्थाप्यौदुम्बरेण स्रुवेणाऽऽवापस्थाने आज्यस्य **जुहोत्ये**तैर्मन्त्रै**र्यावन्तो देवाः** इत्याद्यैः ॥१॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यारभ्य द्वे द्वे आहुती हुत्वा मन्थे

हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥२॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति

करके स्रुवा से बचे हुए घृत को मन्थ पर डाल देता है। "रेतसे स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है (औषधियों के पीसे हुए पिण्ड को मन्थ कहते हैं, उसी में अवशिष्ट धृत को डालने के लिए कहा गया है। अतः उक्त मन्त्रों में आई हुई क्रिया का 'डाले' ऐसा अर्थ भी किया जाता है)॥२॥

"अग्नये स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "सोमाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके सस्रव को मन्थ में डाल देता है। "भूः स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। "भुवः स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है। "स्वः स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है। "भूर्भुवः

संस्रवमवनयति। स्रुवावलेपनमाज्यं मन्थे संस्रावयति। एतस्मादेव ज्येष्ठाय श्रेष्ठायेत्यादिप्राणलिङ्गाज्ज्येष्ठश्रेष्ठादिप्राणविद एवास्मिन्कर्मण्यधिकारः। **रेतस** इत्या-

भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥३ ॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितम-

स्वः स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। ''ब्रह्मणे स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। ''क्षत्राय स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। ''भूताय स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। ''भविष्यते स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। ''विश्वाय स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है। ''सर्वाय स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में होम करके संस्रव को मन्थ पर डाल देत है। ''प्रजापतये स्वाहा'' इस मन्त्र से अग्नि में हवन करके संस्रव को मन्थ पर डाल देता है (उक्त सभी मन्त्रों से आहुतियाँ डालकर स्रुवा में लगे हुए धृत को मन्थ में डालता जाता है और दूसरी उपमथानी से उसका मन्थन करता है)॥३॥

इसके बाद इस मन्थ को ''भ्रमदसि'' इत्यादि मन्त्र के द्वारा स्पर्श करता है (अपने अधिष्ठातृ देव प्राण रूप से एक होने के कारण वह मन्थ द्रव्य सर्वात्मक है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—) तुम प्राणरूप से सभी देहों में घूमते हो। अग्नि रूप से सभी जगह प्रज्वलित होते हो। ब्रह्मरूप से परिपूर्ण हो, आकाश रूप से निष्कम्प हो। किसी के भी विरोधी न होने के कारण तुम यह विश्वरूप एक सभा के तुल्य हो। यज्ञ के प्रारम्भ

रभ्यैकैकामाहुतिं हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयत्यपरयोपमन्थन्या पुनर्मथ्नाति ॥२॥ ॥३॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसीत्यनेन मन्त्रेण ॥४॥

स्यार्द्रे संदीप्तमसि विभुरसि प्रभुरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥४॥

अथैनमुद्यच्छत्यामꣳस्यामꣳहि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स माꣳराजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।

में प्रस्तोता द्वारा यज्ञ में किये जाने वाले "हिङ्क्रियमाण" भी तुम ही हो। यज्ञ के आरम्भ में उद्गाता द्वारा उच्चस्वर से गान किया गया "उद्गीथ" तुम ही हो। एवं यज्ञ के मध्य में उद्गाता द्वारा "उद्गीयमान" भी तुम ही हो। अध्वर्यु द्वारा श्रावित तथा आग्नीध्र द्वारा प्रत्याश्रावित तुम ही हो। मेघ में अच्छी प्रकार से प्रकाशमान तुम ही हो। विविध रूप धारण करने वाले विभु तुम ही हो और सब कुछ करने में समर्थ प्रभु तुम ही हो। तुम अग्नि रूप से ज्योति हो, कारण रूप से सबका प्रलय स्थान हो और सबका संहारक होने से संवर्ग तुम ही हो॥४॥

"आमंसि आमंहि" इत्यादि मन्त्र से पात्र सहित मन्थ को ऊपर उठाता है। हे मन्थ! तुम सब जानते हो, मैं भी तेरी महिमा को अच्छी प्रकार जानता हूँ। वह प्राण राजा ईशान और अधिपति है। वह मुझे राजा ईशान और अधिपति बनावे, अर्थात् अपने समान गुणों से युक्त मुझे यजमान को भी बनावे॥५॥

इसके बाद "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्यादि मन्त्र से इस मन्थ का भक्षण करता है। सूर्य के उस वरण करने योग्य श्रेष्ठ पद का मैं ध्यान करता हूँ। हवा शीतल-मन्द-सुगन्ध गति

अथैनमुद्यच्छति सह पात्रेण हस्ते गृह्णात्यामंस्यामं हि ते महीत्यनेन॥५॥

अथैनमाचामति भक्षयति गायत्र्याः प्रथमपादेन मधुमत्यैकया व्याहृत्या च प्रथमया प्रथमग्रासमाचामति। तथा गायत्रीद्वितीयपादेन मधुमत्या द्वितीयया द्वितीयया

भूः स्वाहा भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। भुवः स्वाहा। धियो यो नः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पति-र्मधुमाꣳ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः। स्वः स्वाहेति। सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमती-रहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संवि-शति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं

से बह रही है। नदियाँ शहद के समान मधुर रस से युक्त हो बह रही हैं। सभी औषधियाँ हमारे लिए मधुर रसप्रद हों। भूः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्रों का उच्चारण कर मन्थ का प्रथम ग्रास भक्षण करे) हम सविता देव के तेज का ध्यान करते हैं। वे हमारे लिये दिन-रात सुखप्रद हों। पृथिवी के रजकण भी हमें उद्वेगप्रद न हों। भुवः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्र से मन्थ का द्वितीय ग्रास भक्षण करे)। जो सविता देव हमारी बुद्धियों का प्रेरक है, वह हमारे लिये मधुर रसमय सोम होवे। सूर्य हमारे लिए मधु वाला होवे। किरणें, दिशाएँ, गौएँ हमारे लिए सुखप्रद हों। स्वः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्रों से तृतीय ग्रास खावे)। इसके बाद सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र और उक्त समस्त ऋचा तथा ''अहमेवेदं सर्व भूयासम्'' (यह सब मैं ही हो जाऊँ) ''भूर्भुवः स्वः स्वाहा'' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अन्त में अवशेष सम्पूर्ण मन्थ को खाकर दोनों हाथ धोकर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठे। फिर प्रातःकाल ''दिशामेकपुण्डरीकमस्यहम्'' (तू दिशाओं में एक पुण्डरीक है, मैं मनुष्यों में एक अखण्ड श्रेष्ठ होऊँ) इत्यादि मन्त्र द्वारा आदित्य को नमस्कार करे,

---

च व्याहृत्या द्वितीयं ग्रासम्। तथा तृतीयेन गायत्रीपादेन तृतीयया मधुमत्या तृतीयया च व्याहृत्या तृतीयं ग्रासम्। सर्वां सावित्रीं सर्वाश्च मधुमतीरुक्त्वाऽहमेवेदं सर्वं भूयासमिति चान्ते भूर्भुवः स्वः स्वाहेति समस्तं भक्षयति। यथा चतुर्भिर्ग्रासैस्तद्द्रव्यं सर्वं परिसमाप्यते तथा पूर्वमेव निरूपयेत्। यत्पात्रावलिप्तं तत्पात्रं सर्वं निर्णिज्य

मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति ॥६ ॥

तꣳहैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥७ ॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥८ ॥

तत्पश्चात जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठे और आगे कहे जाने वाले वंश का जप करें ॥६ ॥

उस इस मन्थ का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रति उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थद्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥७ ॥

उस मन्थ का वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥८ ॥

तूष्णीं पिबेत्। पाणी प्रक्षाल्याप आचम्य **जघनेनाग्निं** पश्चादग्नेः प्राक्शिराः संविशति। **प्रातः**सन्ध्यामुपास्या**ऽऽदित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीक**-मित्यनेन मन्त्रेण। **यथेतं** यथागत**मेत्या**ऽऽगत्य **जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति** ॥६ ॥

तं हैतमुद्दालक इत्यादि सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवा**चापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरन्नेवास्मिञ्शाखाः प्ररोहेयुः**

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिने उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥९॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिने उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥१०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिने उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥११॥

उस इस मन्थ का मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डालेगा तो उसमें शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥९॥

उस इस मन्थ का चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थद्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें भी शाखाएँ फूट निकलेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥१०॥

उस इस मन्थ का जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल के लिए उपदेश करके कहा था यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥११॥

पलाशानीत्येवमन्तमेनं मन्थमुद्दालकात्प्रभृत्येकैकाचार्यक्रमागतं सत्यकाम आचार्यो बहुभ्योऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाच। किमन्यदुवाचेत्युच्यते—**अपि य एनं शुष्के स्थाणौ** गतप्राणेऽप्येनं मन्थं भक्षणाय संस्कृतं **निषिञ्चेत्**प्रक्षिपे**ज्जायेरन्नु**

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वो-
वाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जाये-
रञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय
वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥१२॥

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस
औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि

उस इस मन्थ का सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल दे, तो उसमें भी शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे। उस इस मन्थ का उपदेश उसे न करे जो पुत्र या शिष्य न हो (शिष्य, वेद पढ़ने वाला श्रोत्रिय, मेधावी, धनदाता, प्रियपुत्र और एक विद्या सीखकर दूसरी विद्या सिखाने वाला ये छः विद्या के अधिकारी होते हैं। उनमें से इस प्राग दर्शन युक्त मन्थ विज्ञान को पुत्र और शिष्य दो ही को देने के लिये कहा गया है)॥१२॥

यह मन्थकर्म चार औदुम्बर काष्ठ के पदार्थ से युक्त होता है। इसमें गूलर की लकड़ी का स्रुवा, गूलर की लकड़ी का चमस, गूलर की लकड़ी का इध्म और उसी काष्ठ की

त्पद्येरन्नेवास्मिन्स्थाणौ **शाखा** अवयवा वृक्षस्य **प्ररोहेयुश्च पलाशानि** पर्णानि यथा जीवतः स्थाणोः। किमुतानेन कर्मणा कामः सिध्येदिति। ध्रुवफलमिदं कर्मेति कर्मस्तुत्यर्थमेतत्। विद्याधिगमे षट्तीर्थानि तेषामिह सप्राणदर्शनस्य मन्थविज्ञानस्याधिगमे द्वे एव तीर्थे अनुज्ञायेते पुत्रश्चान्तेवासी च॥७॥८॥ ॥९॥१०॥११॥१२॥

चतुरौदुम्बरो भवतीति व्याख्यातम्। **दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति** ग्राम्याणां तु धान्यानां दश नियमेन ग्राह्याणीत्यवोचाम। तान्येतानि निर्दिश्यन्ते—**व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो**ऽणवश्चाणुशब्दवाच्याः।

धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान्पि-ष्टान्दधनि मधुनि घृते उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य श्रीमन्थनामतृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

।अथ पुत्रमन्थनाम चतुर्थं ब्राह्मणम्।

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामो-षधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः॥१॥

दो उपमन्थनी होती हैं (इसीलिये इस मन्थ कर्म को चतुरौदुम्बर कहते हैं)। इसमें धान्य, जौ, तिल, उड़द साँवा, काँगनी, गेहूँ, मसूर, बाल और कुलथी ऐसे दस ग्रामीण अन्न होते हैं (इसके अतिरिक्त यज्ञसंबन्धी अन्य औषधियाँ भी यथाशक्ति मिलाई जाती हैं) इन्हें पीस करके दही, मधु और घृत में मिलाकर घृत से होम करता है॥१३॥

॥इति तृतीयं ब्राह्मणम्॥

इन स्थावर जङ्गम संपूर्ण भूतों का सारतत्त्व पृथिवी है, पृथिवी का सार जल है, जल का सार औषधियाँ हैं, औषधियों का सार पुष्प है, पुष्प का सार फल है, फलों का सार पुरुष है तथा पुरुष का सार वीर्य है॥१॥

क्वचिद्देशे प्रियंगवः प्रसिद्धाः कङ्गुशब्देन। खल्वा निष्पावा वल्लशब्दवाच्या लोके खलकुलाः कुलत्थाः। एतद्व्यतिरेकेण यथाशक्ति सर्वौषधयो ग्राह्याः फलानि चेत्यवोचामायाजिकानि वर्जयित्वा॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य श्रीमन्थनामतृतीयं ब्राह्मणम्॥३॥

यादृग्जन्मा यथोत्पादितो यैर्वा गुणैर्विशिष्टः पुत्र आत्मनः पितुश्च लोक्यो

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳ ससृजे ताꣳ सृष्ट्वाऽध उपास्ते तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत्॥२॥

उस प्रसिद्ध सृष्टिकर्त्ता प्रजापति ने विचार किया कि इस सारतत्त्व को स्थापना के लिए किसी योग्य आधार भूमि का निर्माण करना चाहिये। उन्होंने स्त्री की सृष्टि की, उसकी सृष्टि करके अधोभाग की उपासना की, अर्थात् मैथुन कर्म किया। अतः उत्तम सन्तान उत्पत्ति मात्र के लिये स्त्री के अधोभाग का सेवन सद्गृहस्थ करें। (इस मैथुन कर्म में वाजपेय यज्ञ की समानता दिखलायी गयी है) प्रजापति ने इस उत्कृष्ट गतिशील (सोमरस निकालने के लिये) पत्थर के सदृश अपने जननेन्द्रिय को मैथुन काल में कठोर बना दिया और स्त्री की योनि की ओर प्रेरित किया, अर्थात् उससे उस स्त्री का संसर्ग किया (स्मरण रहे यह संतान उत्पत्ति विज्ञान प्रजा उत्पादन योग्य गृहस्थ आश्रम में तरुणों के लिये ही बतलाया गया है; अन्य के लिये नहीं। इस विज्ञान में अश्लील शब्दों का आना अनिवार्य है। अतः पाठक विश्व कल्याण की भावना से इस प्रसङ्ग को पढ़ें)॥२॥

भवतीति तत्संपादनाय ब्राह्मणमारभ्यते। प्राणदर्शिनः श्रीमन्थं कर्म कृतवतः पुत्रमन्थेऽधिकारः। यदा पुत्रमन्थं चिकीर्षति, तदा श्रीमन्थं कृत्वर्तुकाले पत्न्याः प्रतीक्षत इत्येतद्रेतस ओषध्यादिरसतमत्वस्तुत्याऽवगम्यते। **एषां वै** चराचराणां **भूतानां पृथिवी रसः** सारभूतः। सर्वभूतानां मध्विति ह्युक्तम्। **पृथिव्या आपो** रसः। अप्सु हि पृथिव्योता च प्रोता च। **अपामोषधयो रसः**। कार्यत्वाद्रसत्वमोषध्यादीनाम्। **ओषधीनां पुष्पाणि, पुष्पाणां फलानि, फलानां पुरुषः। पुरुषस्य रेतः**। "सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम्" इति श्रुत्यन्तरात्॥१॥

यत एवं सर्वभूतानां सारतममेतद्रेतोऽतः का नु खल्वस्य योग्या प्रतिष्ठेति **स ह स्रष्टा प्रजापतिरीक्षांचक्रे**। ईक्षां कृत्वा **स स्त्रियं ससृजे**। **तां च सृष्ट्वाऽध उपास्त** मैथुनाख्यं कर्माधउपासनं नाम कृतवान्। **तस्मा-**

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान्ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्याऽस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते॥३॥

उस स्त्री की उपस्थ इन्द्रिय वेदी है, वहाँ के रोएँ कुशा हैं, योनि का मध्य भाग लाल वर्ण के कारण प्रज्वलित अग्नि है, योनि के पार्श्व भाग में दो कठोर माँस खण्ड मुष्क हैं, वे दोनों मुष्क ही चर्माधिषवण नाम से प्रसिद्ध चमड़े के बने सोमफलक हैं। वाजपेय यज्ञ अनुष्ठान से यजमान को जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही इस मैथुन विज्ञान के जानने वाले उपासक को इस कर्म से भी प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानने वाला पुरुष मैथुन का आचरण करता है। वह विद्वान् इन स्त्रियों के पुण्य को अवरुद्ध कर लेता है, इसके विपरीत जो इसे जानता नहीं और यदि वह मैथुन का सेवन करता है, तो उस अज्ञानी के पुण्य को स्त्रियाँ अवरुद्ध कर लेती हैं॥३॥

त्स्त्रियमध उपासीत। श्रेष्ठानुश्रयणा हि प्रजाः। अत्र वाजपेयसामान्यक्लृप्तिमाह— **स एतं प्राञ्चं** प्रकृष्टगतियुक्तमात्मनो **ग्रावाणं** सोमाभिषवोपलस्थानीयं काठिन्यसामान्यात्प्रजननेन्द्रिय**मुदपारयदु**त्पूरितवान्स्त्रीव्यञ्जनं प्रति **तेनैनां** स्त्रिय**मभ्यसृजद**भिसंसर्गं कृतवान्॥२॥

तस्या वेदिरित्यादि सर्वं सामान्यं प्रसिद्धम्। **समिद्धोऽग्निर्मध्यतः** स्त्रीव्यञ्जनस्य **तौ मुष्का**वधिषवणफलके इति व्यवहितेन संबध्यते। वाजपेययाजिनो यावाँल्लोकः प्रसिद्धस्तावान्विदुषो मैथुनकर्मणो लोकः फलमिति स्तूयते। तस्माद्बीभत्सा नो कार्येति। **य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्त** आवर्जयति। अथ पुनर्यो वाजपेयसंपत्तिं न जानात्यविद्वान् रेतसो रसतमत्वं चाधोपहासं चरति। **आऽस्य स्त्रियः सुकृतमावृञ्जते**ऽविदुषः॥३॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्‌गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमार-हारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोप-हासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति॥४॥

निश्चय ही मैथुन कर्म को वाजसनेय संपन्न ज्ञाता, अरुणनन्दन उद्दालक पूर्वोक्त रीति से कहते हैं। इसे उक्त रूप में जानने वाले मुद्‌गल के पुत्र नाक कहते हैं तथा इसे उक्त रूप से जानने वाले कुमारहारित भी कहते हैं कि बहुत से ऐसे मरणशील मनुष्य नाममात्र के ब्राह्मण हैं जो असंयत इन्द्रिय पुण्यकर्म रहित अर्थात् मैथुन कर्म में आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। वे इस लोक से प्रस्थान करने पर परलोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। (जो ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक 'पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करता है') उस प्राण उपासक का यदि राग की प्रबलता के कारण ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व अधिक या कम मात्रा में सोते या जागते समय वीर्य गिर जाता है (तो वह निम्नाङ्कित प्रायश्चित्त करे)॥४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहाधोपहासाख्यं मैथुन-कर्म वाजपेयसंपन्नं विद्वानित्यर्थः। तथा **नाको मौद्गल्यः कुमारहारितश्च**। किं त आहुरित्युच्यते—**बहवो मर्या** मरणधर्मिणो मनुष्या ब्राह्मणा अयनं येषां ते **ब्राह्मणायना** ब्रह्मबन्धवो जातिमात्रोपजीविन इत्येतत्। **निरिन्द्रिया** विश्लिष्टे-न्द्रिया **विसुकृतो** विगतसुकृतकर्माणोऽविद्वांसो मैथुनकर्मासक्ता इत्यर्थः। ते किम**स्माल्लोकात्प्रयन्ति** परलोकात्परिभ्रष्टा इति। मैथुनकर्मणोऽत्यन्तपापहेतुत्वं दर्शयति—**य इदमविद्वांसोऽधोपहासं चरन्तीति**। श्रीमन्थं कृत्वा पत्न्या ऋतुकालं ब्रह्मचर्येण प्रतीक्षते **यदीदं रेतः स्कन्दति बहु** **वा**ऽल्पं वा **सुप्तस्य वा जाग्रतो वा** रागप्राबल्यात्॥४॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः। इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात्॥५॥

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा

उस वीर्य को हाथ से स्पर्श करे और स्पर्श करते समय इस प्रकार अभिमन्त्रित करे— आज जो मेरा वीर्य स्खलित होकर पृथिवी पर गिरा है, जो पहले कभी अन्न में भी गिरा और जल में पड़ा है, उस इस रेत को मैं ग्रहण करता हूँ; ऐसा कहकर अनामिका और अंगुष्ठ से उस वीर्य को ग्रहण कर दोनों स्तनों और भौंहों के बीच में लगावे, उस समय यह मन्त्र पढ़े। वह इन्द्रिय पुनः मेरे पास लौट आवे, जो वीर्य स्खलित रूप से बाहर निकल गयी थी, मुझे पुनः तेज और सौभाग्य की प्राप्ति हो। जिनका स्थान अग्नि है, वे देवगण फिर से मेरे शरीर में उस रेत को यथास्थान स्थापित कर दें॥५॥

यदि भूल से जल में रेत स्खलित हो जाय तो वहाँ पर अपनी छाया को देख लेवे और "मयि तेजः" इत्यादि मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित करे। मन्त्रार्थ इस प्रकार है— हे देवगण! आप मुझमें तेज, वीर्य, यश, धन और सत्कर्म की प्रतिष्ठा करें। (उसके बाद जिसके गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति करनी हो उस पत्नी की स्तुति इस प्रकार करे—) यह पत्नी समस्त स्त्रियों में लक्ष्मीस्वरूपा है, क्योंकि रजस्वला होने के कारण इसके वस्त्र में

तदभिमृशेदनुमन्त्रयेत **वा**ऽनुजपेदित्यर्थः। यदाऽभिमृशति तदाऽनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां तद्रेत **आदत्त** आदद इत्येवमन्तेन मन्त्रेण पुनर्मामित्येतेन **निमृज्यादन्तरेण** मध्ये **भ्रुवौ** भ्रुवोर्वा **स्तनौ** स्तनयोर्वा॥५॥

अथ यदि कदाचिदुदके **आत्मान**मात्मच्छायां **पश्ये**त्तत्राप्यभिम-

स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनी-मभिक्रम्योपमन्त्रयेत॥६॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात्सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्याति-क्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आददे इत्ययशा एव भवति॥७॥

रज के चिह्न स्पष्ट दीखते हैं। तत्पश्चात् रजस्वला तथा यशस्विनी पत्नी के तीन रात्रि के बाद स्नान कर चुकने पर उसके पास जाकर कहे। आज हम दोनों को वही करना है, जिससे पुत्र उत्पन्न होवे॥६॥

वह धर्म-पत्नी यदि इस पति को मैथुन न करने दें, तो पति उसे उसकी इच्छानुसार वस्त्रादि देकर उस पर अपना प्रेम प्रकट करे। इस पर भी यदि वह इसे मैथुन का अवसर न देवे, तो वह पति स्वेच्छानुसार डण्डे का भय दिखलाकर उसके साथ बलपूर्वक समागम करे। यदि वह भी संभव न हो तो "मैं तुझे शाप देकर वन्ध्या बना दूँगा" ऐसा कह कर उसके पास जावे और "मैं अपनी यशः स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे यश को छीन लेता हूँ। इस मन्त्र का पाठ करे। उस अभिशाप से वह निश्चित वन्ध्या या दुर्भगा शब्द से कही जाने वाली अयशस्विनी हो ही जाती है"॥७॥

न्त्रयेतानेन मन्त्रेण **मयि तेज** इति। **श्रीर्ह वा एषा पत्नी स्त्रीणां** मध्ये **यद्यस्मान्मलोद्वासा** उद्गतमलवद्वासास्त**स्मा**त्तां **मलोद्वाससं यशस्विनीं** श्रीमती**मभिक्रम्या**भिगत्यो**पमन्त्रयेत**इदमद्याऽऽवाभ्यां कार्यं यत्पुत्रोत्पादन-मिति त्रिरात्रान्त आप्लुताम्॥६॥

सा चेदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्तुं **काममेनामवक्रीणीया**दाभरणादिना ज्ञापयेत्। तथाऽपि **सा नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामे**न्मैथुनाय। शप्स्यामि त्वां दुर्भगां करिष्यामीति प्रख्याप्य

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥८ ॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादये माममूं मयीति ॥९ ॥

यदि वह पत्नी उस पति को समागम का अवसर दे, तो पति उसे आशीर्वाद देते हुए कहे— मैं अपनी यशःस्वरूप इन्द्रिय से तुझमें यश का आधान करता हूँ। इससे वे दोनों दम्पति यशस्वी यानी सन्तान वाले होते ही हैं ॥८ ॥

वह पुरुष अपनी जिस पत्नी के संबन्ध में ऐसा चाहे कि वह मेरे प्रति कामनायुक्त हो, मुझे मन से चाहने लगे, तो उसकी योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिलाकर उसके उपस्थ भाग का स्पर्श करते हुए इस मन्त्र का जप करे। हे वीर्य! तुम मेरे प्रत्येक अङ्ग से उत्पन्न होते हो, विशेष रूप से हृदयस्थ नाड़ी द्वारा तुम प्रकट होते हो, तुम मेरे अङ्ग के सार हो। अतः जैसे विषाक्त बाण से घायल हुई मृगी मूर्छित हो जाती है, ऐसे ही तुम मेरी इस पत्नी को मेरे प्रति पागल बना दो, अर्थात् मेरे अधीन इसे कर डालो ॥९ ॥

तामनेन मन्त्रेणोपगच्छे**दिन्द्रियेण ते यशसा यश आददः** इति। सा तस्मात्तदभिशापाद्वन्ध्या दुर्भगेति ख्याताऽ**यशा एव भवति** ॥७ ॥

सा चेदस्मै दद्यादनुगुणैव स्याद्भर्तुस्तदाऽनेन मन्त्रेणोपगच्छे**दिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति** तदा **यशस्विनावे**वोभावपि **भवतः** ॥८ ॥

स यां स्वभार्या**मिच्छे**दियं **मां कामये**तेति **तस्यामर्थं** प्रजननेन्द्रियं **निष्ठाय** निक्षिप्य **मुखेन मुखं संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपे**दिमं मन्त्र**मङ्गादङ्गा**दिति ॥९ ॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति॥१०॥

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति॥११॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादामपात्रे-

पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे, यह गर्भवती न हो, तो उसकी योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित करके उसके मुख से मुख मिलाकर अभिप्राणन कर्म करके अपानन क्रिया इस मन्त्र के द्वारा करे— "इन्द्रिय स्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तेरे रेत को ग्रहण करता हूँ" ऐसा करने पर वह गर्भिणी नहीं होती॥१०॥

पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे कि वह गर्भवती हो, वह उसकी योनि में पअनी जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिला कर पहले अपानन क्रिया करे। तत्पश्चात् अभिप्राणन क्रिया करते समय इस मन्त्र का पाठ करे— "मैं इन्द्रिय रूप वीर्य के द्वारा तेरे रेत का आधान करता हूँ" ऐसा करने से वह गर्भवती निश्चय ही हो जाती है॥११॥

जिस गृहस्थ विद्वान् की पत्नी का कोई जार पति हो, उस जार पति से द्वेष भाव

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीत न धारयेद्गर्भिणी माभूदिति **तस्यामर्थमिति** पूर्ववत्। **अभिप्राण्याभि**प्राणनं प्रथमं कृत्वा पश्चा**दपान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्य**नेन मन्त्रे**णारेता एव भवति** न गर्भिणी भवतीत्यर्थः॥१०॥

अथ यामिच्छेद्दधीत गर्भमिति **तस्यामर्थ**मित्यादि पूर्ववत्। पूर्वविपर्ययेणा**पान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति**॥११॥

अथ पुनर्**यस्य जायायै जार** उपपतिः **स्यात्तं चेद्द्विष्याद**भिचरिष्या-

ऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशुꣳस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥१२॥

रखकर वह उसे दण्ड देना चाहे, तो वह मिट्टी के कच्चे बर्तन में (पंच भूसंस्कार पूर्वक) अग्नि की स्थापना करके विपरीत क्रम से अर्थात. दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र रूप से सरकण्डों का बर्हिष् बिछा कर उस पर बाणाकार उनकी सींकों को घी से गीला कर उनके अग्रभाग को विपरीत दिशा में रखते हुए उस स्थापित अग्नि में उनकी चार आहुतियाँ निम्नाङ्कित मन्त्रो से देवे। मन्त्रार्थ यह है कि अरे दुष्ट! यौवनादि से प्रज्वलित मेरी पत्नी रूप अग्नि में तूने वीर्य रूप आहुति डाली है, अतः तुझ पापी के प्राण अपान को मैं समाप्त कर देता हूँ। "मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददे" इसका उच्चारण तथा फट् शब्द को बोलकर पहली आहुति दे और "असौ मम शत्रुः" ऐसा कहकर शत्रु का नाम लेवे। इसी प्रकार चारों मन्त्रों में पहले मन्त्र से प्राण और अपान को, दूसरे मन्त्र से पुत्र और पशुओं को, तीसरे मन्त्र से यज्ञ और पुण्य को तथा चौथे मन्त्र से प्रार्थना एवं प्रतिज्ञापूर्ति को प्रतिज्ञा को नष्ट करने के लिए कहा गया है। इस प्रकार मन्थ कर्म को जानने वाला प्राणदर्शी विद्वान् ब्राह्मण जिसे शाप देता है, वह इन्द्रियरहित एवं पुण्य कर्म से शून्य होकर इस लोक से चला जाता है। अतः परस्त्रीगमन के ऐसे भयङ्कर परिणाम को जानने वाला पुरुष किसी श्रोत्रिय विद्वान् की पत्नी से परिहास की भी इच्छा न करे, फिर समागम की तो बात दूर ही रही, क्योंकि ऐसे अभिचार को जानने वाला विद्वान् उसका शत्रु बन जाता है॥१२॥

म्येनमिति मन्येत तस्येदं कर्म। **आमपात्रेऽग्निमुपसमाधाय** सर्वं **प्रतिलोमं**

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कꣳसे न पिबेद-हतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥१३॥

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्त-

जिस पत्नी को रजोधर्म प्राप्त हो, वह पत्नी तीन दिन तक काँसे के बर्तन में न खावे और चौथे दिन स्नान करके ऐसा वस्त्र पहने जो फटा न हो और स्वच्छ हो। स्नान के बाद और पहले भी उस ऋतुमती स्त्री को शूद्रा या शूद्र स्पर्श न करे। वह रजस्वला स्त्री तीन दिन के बाद जब स्नान करले, तब उसे धान कूटने के काम में लगावे ॥१३॥

जो पुरुष चाहता हो मेरा पुत्र शुक्ल वर्ण का उत्पन्न हो, एक वेद का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे; तो वे पति-पत्नी दूध और चावल पकाकर उसमें

कुर्यात्तस्मिन्नग्नावेताः **शरभृष्टीः** शरेषीकाः **प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता** घृताभ्यक्ता **जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीरि**त्याद्या आहुतीरन्ते सर्वासामसाविति नामग्रहणं प्रत्येकम्। **स एष एवंविद्‌ ब्राह्मणः शपति** स विसुकृतो विगतपुण्यकर्मा प्रैति। **तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छे**न्नर्मापि न कुर्यात्किमुताधोपहासं **हि** यस्मा**देवंविद**पि तावत्**परो भवति** शत्रुर्भवतीत्यर्थः ॥१२॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देदृतुभावं प्राप्नुयादित्येवमादिर्ग्रन्थः श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणामित्यतः पूर्वं द्रष्टव्यः सामर्थ्यात्। **त्र्यहं कंसेन पिबेदहतवासा**श्च स्यात्। **नैनां** स्नातामस्नातां च **वृषलो वृषली** वा नोप**हन्या**न्नोपस्पृशेत्। **त्रिरात्रान्ते** त्रिरात्रव्रतसमाप्तावा**प्लुत्य** स्नात्वाऽहतवासाः स्यादिति व्यवहितेन संबन्धः। तामाप्लुतां **व्रीहीनवघातयेद्**व्रीह्यवघाताय तामेव विनियुञ्ज्यात् ॥१३॥

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो वर्णतो **जायेत, वेदमेकमनुब्रुवीत,**

मश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

घी डालकर खीर खावें। इससे वे दोनों वैसे पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं॥१४॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र कपिल या पिङ्गल वर्ण का हो, दो वेदों का अध्ययन करे, पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे; तो वे दोनों पति-पत्नी दधि के साथ भात पकाकर घी डालकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं॥१५॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण लाल नेत्र वाला हो, तीन वेदों का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे तो वे दोनों पति-पत्नी केवल जल में चावल पकाकर घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं॥१६॥

सर्वमायुरियाद्वर्षशतं, **क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ** समर्थौ **जनयितवै** जनयितुम्॥१४॥

दध्योदनं दध्ना चरुं **पाचयित्वा** द्विवेदं चेदिच्छति पुत्रं तदैवमशननियमः॥१५॥

केवलमेव स्वाभाविक**मोदनम्**। **उद**ग्रहणमन्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम्॥१६॥

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१७॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा॥१८॥

जो पुरुष चाहे कि मेरी पुत्री (गृह शास्त्र में निपुण हो) विदुषी हो जावे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे पति-पत्नी तिल और चावल की खिचड़ी बनाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाली कन्या को उत्पन्न कर सकते हैं॥१७॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र लोकविख्यात, पण्डित, विद्वानों की सभा में निर्भीक होकर जाने वाला तथा रमणीय संस्कृत सार्थक वाणी बोलने वाला हो, संपूर्ण वेदों का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे दोनों पति-पत्नी हल्के फल के गूदे से मिश्रित चावल को पकाकर उसमें घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। उक्षा या ऋषभ नामक औषधि के गूदे के साथ खाने का नियम किया गया है, न कि साँड या बैल के माँस के साथ॥१८॥

दुहितुः पाण्डित्यं गृहकृत्यविषयमेव, वेदेऽनधिकारात्। **तिलौदनं** कृशरम्॥१७॥

विविधं गीतो **विगीतः** प्रख्यात इत्यर्थः। **समितिंगमः** सभां गच्छतीति प्रगल्भ इत्यर्थः। पाण्डित्यस्य पृथग्ग्रहणात्। **शुश्रूषितां** श्रोतुमिष्टां रमणीयां **वाचं भाषिता** संस्कृताया अर्थवत्या वाचो भाषितेत्यर्थः। मांसमिश्रमोदनं **मांसौदनम्**। तन्मांसनियमार्थमाह— **औक्षेण वा** मांसेन। उक्षा सेचनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम् ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीय**मार्षभं** मांसम्॥१८॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति॥१९॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्य-

तत्पश्चात् चौथे दिन नित्य क्रिया से निवृत्त हो प्रातः काल ही कूटने से तैयार हुए चावलों को लेकर स्थालीपाक की विधि से घृत का संस्कार करके स्थाली में से थोड़ा-थोड़ा अन्न लेकर "अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा" इत्यादि मन्त्रों से तीन प्रधान आहुतियाँ देवे। इस प्रकार आहुति देकर स्थाली पाक से बचे हुए चरु को एक पात्र में निकाल कर उसमें घी मिला कर पति पहले स्वयं भोजन करे, शेष उच्छिष्ट अपनी पत्नी को देवे। इसके अनन्तर हाथ-पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र को भरकर उसी जल से अपनी पत्नी का "उत्तिष्ठातः" इत्यादि मन्त्र से तीन बार अभिषेक करे, पर मन्त्र एक ही बार पढ़े॥१९॥

इसके बाद पति अपनी कामना के अनुसार पत्नी को खीर आदि भोजन कराने

अथाभिप्रातरेव कालेऽवघातनिवृत्तांस्तण्डुलानादाय **स्थालीपाकावृता** स्थालीपाकविधिना**ऽऽज्यं चेष्टित्वा**ऽऽज्यसंस्कारं कृत्वा चरुं श्रपयित्वा **स्थालीपाकस्या**ऽऽहुतीर्जुहोति, उपघातमुपहत्योपहत्याग्नये स्वाहेत्याद्याः। गार्ह्यः सर्वो विधिर्द्रष्टव्यो। हुत्वोद्धृत्य चरुशेषं **प्राश्नाति** स्वयं **प्राश्येतरस्याः** पत्न्यै **प्रयच्छत्**युच्छिष्टम्। **प्रक्षाल्य पाणी** आचम्**योदपात्रं पूरयित्वा तेनो**दके**नैनां त्रिरभ्युक्षत्**यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठात इति सकृन्मन्त्रोच्चारणम्॥१९॥

अथैनामभिमन्त्र्य क्षीरौदनादि यथापत्यकामं भुक्त्वेति क्रमो द्रष्टव्यः।

मोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति॥२०॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳसधाय त्रिरेना-मनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।

के पश्चात् उसके साथ शयन करे। उस समय "अमोऽहमस्मि" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अपनी पत्नी का आलिङ्गन करे। मन्त्रार्थ यह है— हे देवि! मैं प्राण हूँ, तुम वाक् हो। तुम वाक् हो, मैं प्राण हूँ। मैं साम तुम ऋक् हो, मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो। अतः आओ, हम दोनों दम्पति परस्पर आलिङ्गन करें। एक साथ रेत धारण करें जिससे कि हम लोगों को पुरुषत्वविशिष्ट पुत्र की प्राप्ति हो॥२०॥

उसके बाद पत्नी के दोनों जंघों को एक दूसरे से पृथक् करे। उस समय "विजिहीथां द्यावापृथिवी" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे। अर्थात् हे जंघारूप आकाश और पृथिवी! तुम दोनों पृथक् हो जाओ। इसके बाद पत्नी की योनि में जननेन्द्रिय स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिलाकर अनुलोम क्रम से (मस्तक से लेकर पैर तक के) पत्नी के अङ्गों का तीन बार मार्जन करे। उस समय "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे। अर्थात् हे प्रिय! व्यापक परमात्मा पुत्र की उत्पत्ति के लिये तेरी जननेन्द्रिय को सार्थक बनावें। भगवान् सूर्य तेरे तथा जनने वाले बालक के अङ्गों को विभागपूर्वक पुष्ट एवं दर्शन के योग्य बनावें। विराट् प्रजापति तुझ में अभिन्न भाव से स्थित हो तुझ से गर्भं का आदान करे एवं धाता तेरे गर्भं का धारण पोषण करे। जिसकी अत्यन्त स्तुति की जाती है, वह

संवेशन काले**ऽमोऽहमस्मी**त्यादिमन्त्रेणाभिपद्यते॥२०॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इत्यनेन। **तस्यामर्थं**मित्यादि पूर्ववत्। **त्रिरेनां** शिरःप्रभृत्य**नुलोमामनुमार्ष्टि विष्णु-**

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये। यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति॥२२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति। यथा वायुः पुष्करिणीꣳसमिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा।

सिनीवाली (अमावस्या) तुम हो। अतः इस गर्भ को धारण करो। सूर्य तथा चन्द्रदेव अपनी रश्मि रूप कमलों की माला पहिन कर अभिन्न भाव से तुझमें स्थित हों, तुझमें गर्भ का आधान करें॥२१॥

प्राचीन काल में अरणि तेजोमयी थी, जिनसे अश्विनीकुमारों ने मन्थन किया। उसी से प्रकट हुए उस अमृत रूप गर्भ को मैं तुझमें स्थापित करता हूँ। इसे तू दशवें मास में उत्पन्न कर। जैसे पृथिवी का गर्भ अग्नि है, जैसे स्वर्ग-भूमि इन्द्र से गर्भवती है, जैसे वायु दिशाओं का गर्भ है, वैसे ही मैं तुझमें पुत्र रूप गर्भ का आधान करता हूँ। हे अमुकदेवि! (अन्त में पत्नी का नाम उच्चारण करे)॥२२॥

प्रसव काल में सुखपूर्वक प्रसव के लिए प्रसव करने वाली स्त्री के ऊपर ''यथा वायुः'' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर जल सींचे। मन्त्रार्थ यह है— जैसे वायु तालाब के जल को सभी ओर से चञ्चल कर देता है, वैसे ही तेरा गर्भ अपने स्थान से चले एवं

योनिमित्यादि प्रतिमन्त्रम्॥२१॥

अन्ते नाम गृह्णात्यसाविति तस्याः॥२२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति प्रसवकाले सुखप्रसवनार्थमनेन मन्त्रेण। **यथा**

इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳ सहेति॥२३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्के आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳसंनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्त्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसन्द्यां मा च्छैत्सीत्प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणाꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति॥२४॥

जेर के सहित बाहर आ जावे। प्रसूति वायु रूप इन्द्र के लिये यह योनि मार्ग बना है, जो गर्भ वेष्टन से युक्त है। हे इन्द्र! उस मार्ग पर पहुँच जा और गर्भ एवं माँसपेशियों के साथ बाहर निकल आ॥२३॥

पुनर्जन्म होने पर पिता उसे अपनी गोद में लेकर अगिन की स्थापना कर काँसे के कटोरे में दधि मिला हुआ घी रखकर थोड़ा-थोड़ा अंश ले करके ''अस्मिन् सहस्रम्'' इत्यादि मन्त्र द्वारा अग्नि में आहुति डाले। मन्त्रार्थ यह है— मैं अपने इस घर में पुत्र रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ सहस्रों मनुष्यों का भरण-पोषण करने वाला होऊँ। मेरी इस संतति में पूजा और पशुओं के सहित संपत्ति का कभी भी विच्छेद न हो, स्वाहा। मुझमें जो प्राण है, उन्हें मैं तुझ पुत्र में होमता हूँ— स्वाहा। मैंने अनुष्ठेय कर्म के साथ कुछ अधिक या न्यून कार्य किया होगा तो मेरे उस कर्म को जानने वाले अग्नि देव अभीष्ट साधक होकर न्यूनातिरिक्त दोष से रहित कर दे— स्वाहा॥२४॥

वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजत्विति॥२३॥

अथ जातकर्म। **जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्के आधाय** पुत्रं **कंसे पृषदाज्यं संनीय** संयोज्य दधिघृते **पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्त्रमित्याद्यावापस्थाने॥२४॥**

। अथ षष्ठाध्यायस्य वंशनाम पञ्चमं ब्राह्मणम्।

अथ वꣳशः। पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥१॥

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृ-

(अब समस्त प्रवचन वंश की आचार्य वंश परम्परा का वर्णन किया जाता है—) पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने औपस्वती पुत्र से, औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, कौशिकी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से और वैयाघ्रपदी पुत्र से, वैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्र से तथा कापी पुत्र से, कापी पुत्र ने॥१॥

आत्रेयी पुत्र से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से, वात्सी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, आर्तभागी पुत्र ने शौङ्गी पुत्र से, शौङ्गी पुत्र ने सांकृति पुत्र से, सांकृति पुत्र ने आलम्आयनी पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती पुत्र से,

---

ब्रह्मवर्चसेन परमां निष्ठां प्रापदित्येवं स्तुत्यो भवतीत्यर्थः। यस्य **चैवंविदो** ब्राह्मणस्य **पुत्रो जायते** स चैवं स्तुत्यो भवतीत्यध्याहार्यम्॥२८॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य पुत्रमन्थनाम चतुर्थं ब्राह्मणम्॥४॥

अथेदानीं समस्तप्रवचनवंशः। स्त्रीप्राधान्यात्। गुणवान्पुत्रो भवतीति प्रस्तुतम्।

तीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥२ ॥

याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान्बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाऽऽख्यायन्ते ॥३ ॥

जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूकायनी पुत्र ने माण्डूकी पुत्र से, माण्डूकी पुत्र ने शाण्डिली पुत्र से, शण्डिली पुत्र ने राथीतरी पुत्र से, राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से, भालुकी पुत्र ने क्रौञ्चिकी के दो पुत्रों से, क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों ने वैदभृती पुत्र से, वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से, कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीनयोगी पुत्र से, प्राचीनयोगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, साञ्जीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नी पुत्र से, प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से, आसुरि ने ॥२॥

याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से, कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, जिह्वावान् बाध्योग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने कश्यप नैध्रुवि से, कश्यप नैध्रुवि ने वाक् से, वाक् ने अम्भिनी से, अम्भिनी ने आदित्य से। अतएव आदित्य से प्राप्त हुई ये शुक्ल यजुःश्रुतियाँ वाजसनेयी याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसिद्ध की गयी हैं॥३॥

अतः स्त्रीविशेषणेनैव पुत्रविशेषणादाचार्यपरम्परा कीर्त्यते। तानीमानि **शुक्लानी**त्यव्यामिश्राणि ब्राह्मणेन। अथवा यानीमानि यजूंषि तानि **शुक्लानि** शुद्धानीत्येतत्। प्रजापतिमारभ्य यावत्पौतिमाषीपुत्रस्तावदधोमुखो नियताचार्यपूर्वक्रमो वंशः समान-

समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्योवात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः, प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य
पञ्चमं वंशनाम ब्राह्मणम् ॥६ ॥

इति वाजसनेयके बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥६ ॥
इति वाजसनेयकबृहदारण्कक्रमेणाष्टमोऽध्यायः ॥८ ॥

इति खिलकाण्डम् समाप्तम्।

साञ्जीवी पुत्र पर्यन्त यह एक ही वंश है। साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनी से, माण्डूकायनी ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाडिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुरकावषेय से, तुरकावषेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से यह विद्या ग्रहण की है। ब्रह्म स्वयंभु है, उस स्वयंभु ब्रह्म को अनेकों बार नमस्कार है ॥४॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य रचित बृहदारण्यकोपनिषद्-खिलकाण्ड की "विद्यानन्दी मिताक्षरा" टीका पूर्ण हुई

मासांजीवीपुत्रात्। **ब्रह्मणः** प्रवचनाख्यस्य। तच्चैतद्ब्रह्म प्रजापतिप्रबन्धपरम्परयाऽऽगत्यास्मास्वनेकधा विप्रसृतमनाद्यनन्तं **स्वयंभु ब्रह्म**, नित्यं **तस्मै ब्रह्मणे नमः**। नमस्तदनुवर्तिभ्यो गुरुभ्यः ॥१ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य वंशनामपञ्चमं ब्राह्मणम् ॥५ ॥
इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठोध्यायः ॥६ ॥
॥ इति षड्विंशाह्निकम् ॥२६ ॥

ॐ

परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज



श्री दशम कैलासपीठाधीश्वर जी महाराज के गुरुदेव श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्री विभूषित स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज लालबीघा (बिहार) के निवासी थे। आपका जन्म सन् १९०४ में ब्राह्मण (शाण्डिल्य) परिवार में हुआ। आपका माता-पिता द्वारा प्रदत्त नाम श्री हरिनन्दन शर्मा था। आपकी शैशव एवं किशोरावस्था गांव के वातावरण में व्यतीत हुई। समयानुकूल साधारण शिक्षा आपने प्राप्त की। ज्यों ही आप तरुण हुए, तो मस्तिष्क में संसार की असारता के दृश्य घूमने लगे और हृदय में वैराग्य व्यथा का प्रादुर्भाव हुआ। फलत: जीवन का सही-सही मूल्यांकन करने के लिये दृढ़ संकल्प लिया और इसी धुन में घर से निकल पड़े।

प्रथम प्रयोग में आपने आर्य समाज में एक कार्यकर्त्ता के रूप में साधना आरम्भ की। परन्तु इस कार्य में आपको मानसिक संतोष नहीं मिला और इसे छोड़ आपने वैदिक सनातन धर्म के ग्रन्थों का सहारा लिया। इस मार्ग में आपकी आस्था दिन प्रतिदिन बढ़ती गई, जिसके फलस्वरूप अपने जीवन को सनातन धर्मानुसार स्वत: प्रशस्त कर वानप्रस्थ स्वीकार लिया। तब आप जीवन के लक्ष्य की ओर तेजी से बढ़ने लगे।

तभी आपको मुंगेर जिले के भदौंस ग्राम के परमहंस योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज का सत्संग प्राप्त हुआ। जिससे आपकी आध्यात्मिक पिपासा शान्त हुई। उनकी छत्रछाया में ही आपने वानप्रस्थ त्याग कर संन्यास आश्रम को अपनाया। गुरुदेव ने आपका नाम स्वामी विज्ञानानन्द गिरि रखा। पर आप की ख्याति परमहंस जी के नाम से हो गई।

परिव्राजक वेष में आप में एक अद्भुत आर्कषण था। कद पांच फुट दस इंच, सजीला बदन, उन्नत वक्षस्थल, लम्बी भुजाएं, चमकता ललाट, मण्डलाकार आभा से युक्त प्रसन्न मुखमण्डल के दर्शनों से कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। आप सरलता शौच, संतोष, तितिक्षा, तप, शम, वैराग्य, धैर्य, अपरिग्रह, अद्रोह, निरहंकारता, अभय आदि सर्व दैवी गुणों के निधान थे।

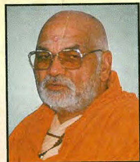
आप गांव-गांव घूमकर अध्यात्म का संदेश देकर लोककल्याण में तत्पर रहते थे। ऋषिकेश गीता भवन में भी आप कभी-कभी पधारते थे। श्री दशम कैलास पीठाधीश्वर जी महाराज ने आपसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेकर अध्यात्म मार्ग को अपनाया था और आपके एवं योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज के आशीर्वाद से शीघ्र ही कृतकृत्यता प्राप्त कर ली। आप अन्तिम कुछ वर्ष कैलास आश्रम में रहे जहां कैलासपीठाधीश्वर जी ने आप की सेवा का समुचित ध्यान रखते हुए बड़े सम्मान से वहां रखा। श्रावण कृ. तृतीया वि.सं. २०३९ को आप ब्रह्मलीन हुए। आपकी जन्म शताब्दी **सन् २००४ में गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम** के अन्तर्गत बड़ी धूम-धाम से मनाने का निश्चय हो चुका है।

संयोजक :- **भगवत्पादभक्तमण्डल**

गुरुजन-शताब्दी-त्रिवेणी-सङ्गम-प्रसङ्गे प्रकाशितम्

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



आप का जन्म 29 नवम्बर, सन् 1921 को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। 20 वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

21 जुलाई सन् 1969 को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्यकलापों से तब विद्यमान कैलास आश्रम के दो पूर्वाचार्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपनेग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आपने कैलास आश्रम की शताब्दी (1980-81), आचार्यद्वय जन्म शताब्दी (1985-86), आद्यश्री शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी (1987-88), भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर प्रतिष्ठा शताब्दी (1992-97) आदि महत्वपूर्ण महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाकर गुरुजनों के यश को चार चाँद लगाये। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वत्ता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक हैं। आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङ्गीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आपने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

आपने शाङ्करी परम्परा को पुष्ट करने का स्तुत्य सफल प्रयास किया है। शाङ्करभाष्य नित्य पारायण के आप प्रणेता हैं और तदनुरूप ग्रन्थों के पारायण संस्करणों को आप प्रकाशित करवा रहे हैं। आपकी इन सभी प्रवृत्तियों को देखकर सन्तों एवं भक्तों ने आपको **शाङ्करी-परम्परा-संपोषकाचार्य** उपाधि से समलंकृत किया है। गुरुजनों के प्रति आपके मन में अगाध श्रद्धा एवं भक्ति है। **गुरुजन शताब्दी त्रिवेणी संगम** महोत्सव के आप ही परिकल्पक एवं संयोजक हैं।